ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या और श्लोक-मन्त्र शब्दानुक्रमणिका सहित)

भारतीय मनीषा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपनिषद् हैं, ये आध्यात्मिक चिन्तन के सर्वोत्कृष्ट नवनीत हैं।

उपनिषद् शब्द का एक अर्थ 'रहस्य' भी है। उपनिषद् अथवा ब्रह्म-विद्या अत्यन्त गूढ़ होने के कारण साधारण विद्याओं की भाँति हस्तगत नहीं हो सकती, इन्हें 'रहस्य' कहा जाता है। इन रहस्यों को उजागर करने वालों में महात्मा नारायण स्वामीजी का नाम उल्लेखनीय है।

व्याख्याकार
महात्मा नारायण स्वामी



ओ३म्

उपनिषद् रहस्य

एकादशोपनिषद्

(मूल, शब्दार्थ, व्याख्या तथा श्लोक-मन्त्र अनुक्रमणिका सहित)



लेखक :

स्व० श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज



विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

उपोद्घात

उपनिषद्-भवन की आधारशिला ईशोपनिषद् है। इस उपनिषद् में जो शिक्षाएं दी गयी हैं, उनको वेद अथवा उपनिषत् की शिक्षा का सार कह सकते हैं और इन्हीं शिक्षाओं का विस्तार पश्चात् की उपनिषदों में किया गया है। उदाहरण की रीति से ईशोपनिषत् की एक शिक्षा है—"नैनद्देवा आप्नुवन्" (देखो मन्त्र ४) अर्थात् "इन्द्रियों से ईश्वर प्राप्तव्य नहीं है।" बाद की सम्पूर्ण दूसरी (केन) उपनिषद् में इसी शिक्षा का विस्तार किया गया है।

ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है। वेद और उपनिषद् के पाठ में अन्त में थोड़ा सा अन्तर अवश्य है, परन्तु उससे आशय का भेद नहीं होता और यह अन्तर भी केवल इसलिए है कि वर्तमान ईशोपनिषद् यजुर्वेद की काण्वशाखा का ज्यों का त्यों ४०वां अध्याय है। इस प्रकार उपनिषदों की शिक्षा (ब्रह्मविद्या) वेद-मूलक है। और भी अनेक स्थलों पर वेदों में ब्रह्मविद्या की शिक्षा का मूल पाया जाता है। उदाहरण की रीति से देखो निम्न वाक्य—

"वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहा सत्" ॥ १ ॥ यजुर्वेद (३२/८) अर्थात् विद्वान् उसको गुहा (हृदय) में देखता है।

"आत्मनात्मानमभिसंविवेश" ॥ २ ॥ (यजुर्वेद ३२/११)

अर्थात् (जीव) आत्मा के द्वारा आत्मा (ब्रह्म) में प्रवेश करता है। इस प्रकार की अनेक शिक्षाएँ चारों वेदों में फैली हुई पायी जाती हैं। जब हम इस प्रकार ब्रह्म (परा) विद्या को भी वेद मूलक कहते हैं, तब स्वाभाविक रीति से हमारे सम्मुख मुण्डकोपनिषत् का प्रारम्भिक वाक्य (देखो १/१/५) आता है, जिसमें वेद और वेदांगों की गणना अपरा विद्या में की गयी है। यदि ब्रह्म (परा) विद्या भी वेदमूलक है, तब वेदों को 'अपरा' क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि वेद केवल परा विद्या का पुस्तक नहीं है। वेद में परा (ब्रह्म) और अपरा (लोक) दोनों प्रकार की विद्याओं का समावेश है। दोनों शिक्षाओं के सम्मिलित होने से उन्हें केवल परा (ब्रह्म)

विद्या का पुस्तक नहीं कह सकते। इसलिए उनकी गणना केवल परा विद्या में नहीं की गई है। अस्तु। ब्रह्म-विद्या के वेदमूलक होने में किसी को किन्तु-परन्तु करने की जरा भी गुंजाइश नहीं है। इस ईशोपनिषद् में जो शिक्षाएं दी गई हैं, उनके प्रकार पर दृष्टिपात करने ही से प्रकट हो जाता है कि उनमें ब्रह्म-विद्या का मूल मौजूद है। इस उपनिषत् के चार भाग हैं—

प्रथम भाग—प्रथम के तीन मन्त्र पहला भाग है, जिनमें कर्त्तव्य-पञ्चक का विवरण दिया गया है अर्थात् उनमें पांच कर्त्तव्यों का विधान किया गया है, जिन को आचरण में लाने ही से कोई व्यक्ति ब्रह्म-विद्या में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त किया करता है। वे पांच कर्त्तव्य ये हैं—

(१) ईश्वर को प्रत्येक स्थान में मौजूद समझना।

(२) संसार की समस्त वस्तुओं को भोगते हुए यह भावना रखना कि वे सब वस्तुएँ ईश्वर की हैं। भोक्ता का इनमें केवल प्रयोगाधिकार है।

(३) किसी का धन या स्वत्व नहीं लेना।

(४) कर्त्तव्य समझ और फल की आकांक्षा से रहित होकर सदैव कर्म करना।

(५) अन्तरात्मा के विरुद्ध आचरण न करना।

दूसरा भाग—उपनिषद् का दूसरा भाग ४ से ८वें मन्त्र तक है, जिसमें ब्रह्मविद्या का वर्णन है। और इन्हीं ५ मन्त्रों में ब्रह्मविद्यामूलक मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

तीसरा भाग—उपनिषद् का तीसरा भाग ९ से १३वें मन्त्र तक पूरा होता है। इसमें मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान किया गया है कि किस प्रकार वह ब्रह्मविद्या को प्राप्त करे।

चौथा भाग—सत्रहवें मन्त्र में एक महत्त्वपूर्ण परीक्षा की बात कही गयी है और अन्तिम अट्ठारहवें मन्त्र में प्रभु से सफलता की प्रार्थना की गई है और इसी प्रार्थना के साथ उपनिषद् समाप्त हो जाती है। उपनिषत् के इस स्थूल विवरण से ही उपनिषद् की महत्ता प्रकट होती है। इतने थोड़े मन्त्रों में इतनी महत्त्वपूर्ण शिक्षाओं का

विधान ही वेद की महत्ता का द्योतक है। समय-समय पर अनेक विद्वानों ने इस उपनिषद् पर विचार किया और बहुतों ने उसकी टीकाएँ लिखीं और व्याख्याएँ भी की हैं। इनमें से प्राय: ४१ टीकाओं के देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। इनमें सब से पुरानी टीका संस्कृत में श्री शंकराचार्य की है। विधर्मियों में सब से पुराना अनुवाद शाहजादा दाराशिकोह का किया हुआ फारसी भाषा में है। इस निष्पक्ष शाहजादे की लिखी हुई भूमिका प्रकट करती है कि उसे शान्ति केवल उन्हीं उपनिषदों की शिक्षा से प्राप्त हुई थी। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक शौपनहार ने अपनी जगत् प्रसिद्ध फिलासफी का आश्रय छोड़कर उपनिषदों ही को जीवन और अन्त दोनों कालों के लिए शान्तिदायक समझा था।[१] निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की कोई न कोई विशेषता अधिकांश टीकाओं में मिलती है। शंकराचार्य जी की टीका की विशेषता यह है कि उन्होंने उपनिषद् के मन्त्रों को अद्वैतपरक लगाया है। इसके विपरीत श्री रामानुजाचार्य उसे विशिष्टाद्वैतपरक और श्री माधवाचार्य उसे द्वैतपरक समझते हैं। वास्तव में उपनिषद् क्या है ? इसका उत्तर उपनिषद् के अक्षरार्थ से प्राप्त होता है। मैंने यद्यपि अनेक टीकाएँ देखीं, परन्तु अन्त में उन टीकाओं की विभिन्नता देखते हुए सिद्धान्त यही स्थिर किया कि उपनिषदों का भाव उसके ही अक्षरों से समझना चाहिए। इसमें किसी भी टीका का अनुकरण नहीं किया गया है। जो कुछ लिखा गया वह वही है, जो उपनिषद् के अक्षरों से समझा जा सकता है या कम से कम मैंने समझा है।

स्वाध्यायशील नर-नारी इन पृष्ठों को पढ़कर विश्वास है कि इसी परिणाम पर पहुंचेंगे। एक दूसरा कारण इन पृष्ठों के लिखने का यह भी था कि प्राय: ४-५ वर्ष से जब से मैंने उपनिषद् की कथाओं का प्रचार शुरू किया था, तब से कथा सुनने वाले तकाजा कर रहे

---

1. In the whole world there is no study so beneficial and so clevating as that of Upnishads. It has the solace of my life and it will be the solace of my death. (Schopenhaur)

थे कि उसी ढंग से जिससे मैं कथाएँ कहा करता हूँ उपनिषदों की टीका लिख दूं। यद्यपि यह समझ कर कि जब अनेक टीकाएँ पहले ही से मौजूद हैं, फिर क्यों कोई नवीन टीका और लिखी जाय। मैं बराबर टीका लिखने की बात टालता रहा।

अन्त में विवश होकर अध्यात्मविद्या के प्रेमियों की इच्छा के सामने सिर झुकाना ही पड़ा। मैं शायद और भी कुछ देर तक इस बात को टालता, परन्तु 'प्रभात' के सम्पादक प्रिय धर्मेन्द्रनाथ जी के तकाजों ने, कि 'प्रभात' के लिए अध्यात्म-विद्या के सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिखना ही चाहिए। इस काम को पूरा करने के लिए बाधित किया और उन्हीं के 'प्रभात' में लिखे हुए लेखों का यह संग्रह है।

यदि इन पृष्ठों के स्वाध्याय से किन्हीं का कुछ भी मनोरंजन होगा तो उसका श्रेय धर्मेन्द्रनाथ जी को ही प्राप्त समझना चाहिए।

—नारायण स्वामी



॥ ओ३म् ॥

ईशोपनिषद्

ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

१. (इदं, सर्वम्) यह सब (यत्किञ्च) जो कुछ (जगत्याम्); पृथ्वी पर (जगत्) चराचर वस्तु है (ईशा) ईश्वर से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य अर्थात् आच्छादित है।

२. (तेन) उसी ईश्वर के (त्यक्तेन) दिये हुए पदार्थों से (भुञ्जीथा:) भोग कर।

३. (कस्यस्वित्) किसी के भी (धनम्) धन का (मा गृध:) लालच मत कर।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

४. (इह) यहाँ (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतं समा:) सौ वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (एवम्) इस प्रकार (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म) कर्म (न, लिप्यते) नहीं लिप्त होता है (इत:) इससे (अन्यथा) भिन्न और कोई मार्ग (न) नहीं है।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

५. (ये के च) जो कोई (आत्महन:) आत्मा के घातक (आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले) (जना:) मनुष्य हैं (ते) वे (प्रेत्य) मर कर (अन्धेन तमसा) गहरे अन्धेरे से (आवृता:) आच्छादित हुए (ते असुर्य्या: नाम लोका:) वे, प्रकाश-रहित नाम वाले जो लोक-योनियां हैं, (तान्) उन (योनियों) को (अभिगच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

व्याख्या

मनुष्य शक्ति का केन्द्र है। शक्ति उसी के भीतर निहित है। इन्हीं शक्तियों के विकास का नाम शिक्षा है। मनुष्य-जीवन की सफलता का भेद यही शक्तिविकास है। यही शक्ति विकसित होकर अभ्युदय और निःश्रेयस, लोक और परलोक की सिद्धि का कारण बनती है। शक्ति-विकास के कार्यक्रम का ही नाम अध्यात्म (योग)विद्या है। योग कर्म में कुशलता का नाम है, जैसा कि गीता में कहा गया है कि–'योगः कर्मसु कौशलम्'। महामुनि पतञ्जलि ने भी योग को क्रिया (कर्म) योग ही कहा है और उसके केवल तीन भाग किए हैं–"तपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।' (योगदर्शन २/१) अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर-भक्ति करने ही से योग की सिद्धियां प्राप्त होती हैं। सुतराम् क्रिया(कर्म) ही योग है। उस क्रिया को करने के लिए सब से पहला साधन तप है। तप व्रतानुष्ठान को कहते हैं। व्रत नाम कर्त्तव्य-प्रतिज्ञा का है। शक्ति के विकास के लिए जिस तप को करना, जिस व्रत का अनुष्ठान करना या जिस कर्त्तव्य का पालन करना है, उसी का नाम कर्त्तव्य-पञ्चक है अर्थात् क्रियात्मक जीवन बनाने के लिए जिस प्रकार के वातावरण (Atmosphere) के उत्पन्न करने की जरूरत है, वह उन पांच कर्त्तव्यों के पालन करने से उत्पन्न होता है, जिसका नाम कर्त्तव्य-पञ्चक है। यह उपनिषद् की आदिम शिक्षा है। इन्हीं कर्त्तव्यों के पालन करने से किसी भी व्यक्ति को वह अधिकार प्राप्त हुआ करता है, जिसका नाम अध्यात्म-विद्या में प्रवेशाधिकार है। इसलिए उपनिषदों की शिक्षा के वर्णन करने में पहला स्थान इसी कर्त्तव्य-पञ्चक को दिया गया है।

पहला कर्त्तव्य

पहली बात यह है कि मनुष्य उच्च प्रकार की आस्तिकता के भावों से अपने हृदय को भर ले। इसका साधन यह है कि मनुष्य ईश्वर को परिच्छिन्न (एकदेशीय) न मानकर उसे विभु व्यापक रूप में माने, अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु आकाश में है और प्रत्येक

वस्तु के भीतर भी आकाश है, इसी प्रकार से ईश्वर भी जगत् में ओत-प्रोत हो रहा है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो ईश्वर में न हो और जिसमें ईश्वर न हो। इस सिद्धान्त के आचरण में आने से मनुष्य का हृदय लचकीला हो जाता है। हृदय के लचकीला होने के लिए दो बातों की जरूरत होती है। प्रथम वह निष्पाप हो, दूसरे उसमें प्रेम की मात्रा अधिकता से हो। ये दोनों बातें ईश्वर को उपर्युक्त भाँति सर्वव्यापक मानने से मनुष्य में आया करती हैं।

मनुष्य पापाचरण के लिए सदैव एकान्त की खोज किया करता है। चोर इसलिए रात्रि को सफलता का साधन समझता है, क्योंकि उसमें एक प्रकार के एकान्त की अधिक सम्भावना होती है, जो ऐसे दुष्ट कर्मों के लिए आवश्यक है। परन्तु ईश्वर का विश्वास होने पर पापाचरण के लिए एकान्त स्थान मिल ही नहीं सकता। एक उर्दू कवि ने इसी भाव को अपनी एक कविता में इस प्रकार प्रकट किया है–

जाहिद[१] शराब पीने दे मस्जिद में बैठकर।
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो॥

अस्तु, जब तक मनुष्य के हृदय में नास्तिकता न आये तब तक वह पाप नहीं करता। इसलिए ईश्वर के सर्वव्यापकत्व पर विश्वास होने ही से मनुष्य निष्पाप हो सकता है। दूसरी बात प्रेम है। मनुष्य ईश्वर को सर्वव्यापक मानने से विवश है कि प्रत्येक प्राणी में ईश्वर की सत्ता, उसके व्यापकत्व गुण से, स्वीकार करे और जब इस प्रकार प्रत्येक प्राणी में–चाहे वह अछूत हो या और कोई उनसे भी निकृष्ट–ईश्वर का होना मानेगा, तब उससे घृणा किस प्रकार कर सकता है। घृणा का अभाव ही प्रेम का द्वार है।

घृणा भी नास्तिकता ही से उत्पन्न होती हैं। जिससे कोई घृणा करेगा, अवश्य उसमें ईश्वर की सत्ता का अभाव मानेगा। इसी का नाम तो नास्तिकता है। निष्कर्ष यह है कि निष्पापता और प्रेम से मनुष्यों के हृदयों में लचकीलापन (कठोरता का अभाव) आया

१ जाहिद–परहेजगार–शुद्धाचारी मनुष्य।

करता है, और इन दोनों साधनों की प्राप्ति ईश्वर के व्यापकत्व पर विश्वास होने ही से हुआ करती है। उपनिषद् ने इस शिक्षा को अपने शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है–"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।"

दूसरा कर्त्तव्य

उपनिषद् के संक्षिप्त से तीन शब्दों में दूसरा कर्त्तव्य वर्णन किया गया है। वे शब्द ये हैं–'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' अर्थात् उस (ईश्वर) के दिये हुए से भोग करे। उपनिषदों ने प्रत्येक प्रकार के भोग की आज्ञा दी है। मनुष्य विवाह करके सन्तान उत्पन्न करे, शक्ति प्राप्त करके राज्य प्राप्त करे और उसका उपभोग करे, कृषि–व्यापार तथा अन्य कौशलादि से धन प्राप्त करके उसका इस्तेमाल करे इत्यादि। उपनिषद् इन सब को विहित बतलाती है परन्तु एक शर्त इन सब के भोग के साथ लगाती है और वह यह है कि मनुष्य इन प्राप्त भोग पदार्थों को ईश्वर का समझकर भोग करे। ऐसे विश्वास से मनुष्य प्रत्येक पदार्थ, राज्य, धनादि को ईश्वर का समझकर उनमें केवल अपना प्रयोगाधिकार समझेगा और ममत्व न जोड़ सकेगा कि 'अमुक पदार्थ मेरा है' संसार के समस्त दुःखों का मूल ममता है। दुःख प्रायः किसी न किसी वस्तु के पृथक् होने से हुआ करते हैं, परन्तु जब इन्हीं वस्तुओं को स्वयं छोड़ देता है, तब दुःख नहीं अपितु सुख हुआ करता है। एक प्रोफेसर को कालिज में अनेक वस्तुएं, पुस्तकें, चित्र, कुर्सी, मेज आदि–प्रयोग के लिए मिली हुई हैं। वह उनका कालिज के घण्टों में प्रयोग करता है। प्रयोग–काल (कालिज के घण्टों) के भीतर यदि कोई उससे इन वस्तुओं को लेना चाहता है तो नहीं देता, परन्तु जब कालिज का अन्तिम घण्टा बजा और इन वस्तुओं के प्रयोग का समय खत्म हुआ, तब स्वयम् इन वस्तुओं को कालिज में ही छोड़कर तने तनहा चल देता है। उस समय यदि कोई कहता है कि उन वस्तुओं में से वह किसी को अपने साथ लेता जाय तो वह उसे अपने ऊपर बोझ समझता है। प्रोफेसर ने जब इन वस्तुओं के सम्बन्ध में अपना केवल

प्रयोगाधिकार समझा, तब उसे इन वस्तुओं के छोड़ने में कुछ भी दुःख नहीं हुआ, परन्तु यदि वह इन वस्तुओं में ममता जोड़ लेता है कि 'वस्तुएं मेरी हैं' तब उसे इन वस्तुओं को छोड़ने में कष्ट अनुभव करना पड़ता है। अस्तु, मनुष्य में जब तक ममता का प्राबल्य रहता है, तब तक वह किसी वस्तु को छोड़ना नहीं चाहता। परन्तु जब उन वस्तुओं में वह अपना केवल प्रयोगाधिकार समझता है, तब प्रयोग-समय समाप्त होने पर स्वयम् उन्हें छोड़ दिया करता है। वस्तुओं के छीनने वाले चोर-डाकू, राजे-महाराजे हुआ ही करते हैं, परन्तु एक बड़ी प्रबल शक्ति है जो गिन-गिन कर एक-एक वस्तु प्राणियों से ले लिया करती है और कुछ भी नहीं छोड़ा करती। उस शक्ति का नाम है मृत्यु। मृत्यु आकर पदार्थों को छीनती है, परन्तु ममता के वशीभूत प्राणी उन्हें देना नहीं चाहता। इसी कलह का नाम मृत्युसंवेदना (मरने का दुःख) है। मृत्यु वास्तव में दुःखप्रद नहीं सुखप्रद है, परन्तु मरने के समय ये दुःख मनुष्यों को ममता के वश में होकर उठाने पड़ते हैं। जो मनुष्य सांसारिक भोग्य पदार्थों में अपना प्रयोगाधिकार समझता है वह इन्हें प्रयोग का समय (जीवन-काल=आयु) समाप्त होने पर छोड़ देता है और फिर उसके पास कुछ रहता ही नहीं, जिसे मृत्यु आकर अपहरण करे। इसलिए उसके लिए मृत्यु का समय दुःख का समय नहीं, अपितु सुख और शान्ति के साथ संसार छोड़ने का समय होता है, जिसमें उसे आशा और आशा ही नहीं, अपितु विश्वास होता है कि वह यह मात्रा चिरकालीन सुख और शान्ति की प्राप्ति करने के लिए कर रहा है। और ऐसे व्यक्ति मृत्यु से डरते नहीं, अपितु मृत्यु का स्वागत किया करते हैं और प्रसन्नता के साथ हंसते-हंसते संसार को छोड़ दिया करते हैं। मृत्यु के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त दुनिया के सामने रखा जाता है कि वह दुःखप्रद नहीं, अपितु सुखप्रद है, तब मनुष्य उसे स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं।

एक व्यक्ति कुष्ठ रोग से पीड़ित है और उसके शरीर से रक्त और मवाद निकला करता है, जिससे प्रत्येक क्षण उसे व्यथित रहना पड़ता है। इस पर तुर्रा यह कि वह जेलखाने में भी कैद है। किसी

प्रकार की स्वतन्त्रता न होने से उसका जीवन दुःख और केवल दुःखमय बन रहा है। परन्तु ऐसे व्यक्ति से जब यह पूछते हैं कि क्या भाई तुम इन सारी विपत्तियों से बचने के लिए मरना चाहते हो ? तो मरने का नाम सुनकर वह भी कानों पर हाथ धरता है। क्रियात्मक जगत् में मृत्यु का इतना भय मनुष्यों के हृदय में बैठा हुआ है, फिर वे मृत्यु को किस प्रकार सुखप्रद कह सकते हैं। यही कारण है, जिससे मनुष्य इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में हिचर-मिचर करते हैं। परन्तु जैसा कि कहा गया है, यह दुःख मनुष्यों को तब होता है जब वे ममता से नाता जोड़ लेते हैं।

एक अत्यन्त रूपवान् पुरुष अपना मुंह जब हंसाने वाले शीशे (Ludicrous = Laughing glass) में देखता है, तो उसका अच्छा मुंह भी बहुत भोंड़ा और हंसने के योग्य दिखाई देता है तो इसमें मुंह का क्या दोष ? मुंह तो अच्छा खासा है। इसमें दोष असल में उस हास्यकारी शीशे ही का है। इसी प्रकार मृत्यु तो दुःखप्रद नहीं अपितु सुखप्रद ही है। परन्तु जब मनुष्य ममता के आयने को सामने रखकर उसमें उसे (मृत्यु को) देखता है, तब वह डरावनी और भयावनी प्रतीत होने लगती है। इससे स्पष्ट होता है कि दोष मृत्यु का नहीं, किन्तु उसी ममतारूपी हास्यकारी शीशे का है। यदि इस शीशे को हटा कर देखें तो फिर मृत्यु की प्यारी और असली सूरत दिखाई देने लगती है।

मृत्यु के प्रिय होने के सम्बन्ध में डॉक्टर ह्यूग लौंसडेल हैंड्स (Dr. Hugh Lonsdale Hands) ने आत्मघात के द्वारा परीक्षण करके मृत्यु के प्रिय होने की पुष्टि की है। उसने अपनी डायरी में इस प्रकार लिखा है–

I have taken half an ounce of Aconite, an ounce of Chloral Hydrate. Both are nice except the tingling, waiting-feeling very happy—first time. I ever felt without worries as if free. +++ Japs are right-death is lovely. I feel fine no pain.

इसका भाव यह है कि विष खाने के बाद उसने लिखा—"मृत्यु प्रिय है" मैं अपने को अच्छा समझ रहा हूं। मुझे कोई तकलीफ नहीं है।"

सारांश यह है कि इस दूसरे कर्त्तव्य का पालन करने से मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतन्त्र होता है। किन्हीं-किन्हीं पुरुषों को यह भ्रम है, या हो जाता है कि यदि मनुष्य सांसारिक पदार्थों—राज्यादि में ममता न जोड़े तो फिर उनकी रक्षा न कर सकेगा। परन्तु यह उनकी भूल है। मनुष्य उन वस्तुओं की भी वैसी ही रक्षा—उपर्युक्त प्रोफेसर की तरह किया करता है, जो उसे प्रयोग के लिए मिली हों, जैसी उनकी करता है जिनमें उस ने मेरेपन का नाता जोड़ा हुआ है। इसलिए लोकदृष्टि से भी यह नियम वैसा ही उपयोगी है जैसा परलोक दृष्टि से, मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतन्त्र होकर संसार में कौन सा बड़े से बड़ा काम है, जिसे नहीं कर सकता।

तीसरा कर्त्तव्य

बिना शान्ति का वातावरण उत्पन्न किये संसार का कोई भी काम पूरा नहीं होता, फिर अध्यात्म-विद्या का तो कहना ही क्या, उसे तो कोई अशान्ति में या अशान्त-चित्त होकर प्राप्त ही नहीं कर सकता। अशान्ति का मूल कारण किसी व्यक्ति या जाति का स्वत्व अपहरण ही हुआ करता है।

दुनिया में भिन्न-भिन्न जातियों में जितने भी युद्ध हुआ करते हैं, उनका मुख्य कारण यही होता है कि किसी जाति का स्वत्व छीना गया या उसकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाई गई हो। यही कारण व्यक्ति-व्यक्ति के झगड़ों की तह में छिपा हुआ मिलता है। इसलिए 'कारणाभावात्कार्य्याभावः' के नियमानुसार उपनिषदों ने तीसरा कर्त्तव्य यह ठहराया है कि 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' अर्थात् किसी के धन या स्वत्व को लेने की चेष्टा मत करो। न किसी का धन लिया जायेगा, न किसी का स्वत्व छीना जायेगा, न किसी की स्वतन्त्रता में बाधा पहुंचाई जायेगी और न उनकी सन्तति, अशान्ति का जन्म होगा।

चौथा कर्त्तव्य

उपनिषद् ने चौथा कर्त्तव्य इन शब्दों में बतलाया है कि कर्म करते हुए मनुष्य १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करें। परन्तु शर्त यह है कि कर्म इस प्रकार करने चाहियें, कि वे करने वाले को लिप्त न करें, अर्थात् मनुष्य उनमें फंस न जाये। उपनिषद् ने खुले शब्दों में यह भी कह दिया कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए इस (कर्मयोग) के सिवाय कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह कर्त्तव्य दो भागों में विभक्त है–(१) मनुष्य को निरन्तर कर्म करने का अभ्यास होना चाहिए, (२) वे कर्म कर्त्ता को फंसाने वाले न हों।

पहले भाग पर दृष्टिपात करने से प्रकट होता है कि कर्म सृष्टि का सार्वतन्त्रिक नियम है। जगत् में कोई वस्तु ऐसी दिखाई नहीं देती कि जो क्रिया–रहित हो। सृष्टि का महान् से महान् कार्य सूर्य–प्रतिक्षण गति में रहता है। पृथ्वी गतिमय है, चन्द्रमा चलता है। यदि छोटी से छोटी वस्तु एक कण (Atom) को लें और देखें तो एक बड़ा चमत्कार दिखाई देता है। उस कण के भीतर एक केन्द्र है और उसके चारों ओर असंख्य विद्युत्कण (Electrons) उसी प्रकार घूमते दिखाई देते हैं, जिस प्रकार अनेक ग्रह और उपग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड का एक–एक कण भी सूर्य–मण्डल (Solar System) का संक्षिप्त रूप है। क्या यह कण जिसके भीतर इतना कार्य हो रहा हो, ठहरा हुआ या निष्क्रिय है ? विज्ञान का उत्तर यह है कि कदापि नहीं। यह पुस्तक जो सामने मेज पर रखी है क्या ठहरी हुई है ? कदापि नहीं। पुस्तक के पृष्ठ जिन कणों से बने हैं, उनमें से प्रत्येक कण में कम्पन (Vibration) पाया जाता है। यदि कम्पन न हो तो कोई वस्तु, वस्तुरूप में बाकी न रहे। इससे स्पष्ट है कि जगत् की छोटी से छोटी वस्तु कण है, जिसके भीतर गति हो ही रही है, और जो स्वयं भी सूर्य–मण्डल की तरह गति में है। जब कर्म का साम्राज्य जगद्व्यापी है, तो मनुष्य उससे किस प्रकार बच सकता है ? इसलिए मनुष्य को भी कर्मनिष्ठ होना

चाहिए। उपनिषद् का उपर्युक्त वाक्य जीवन की अन्तिम घड़ी तक कर्म करने का विधायक है। संन्यास, कर्म के त्याग को अवश्य कहते हैं, परन्तु कर्म से प्रयोजन काम्य (सकाम) कर्म यज्ञादि से है, और उन्हीं का त्याग संन्यास है, निष्काम कर्म तो कभी भी नहीं छोड़े जा सकते।

कर्त्तव्य का दूसरा भाग यह है कि मनुष्य कर्म में लिप्त न हो। कर्त्तव्य के इस भाग को समझने के लिए आवश्यक है कि यह समझ लिया जाये कि कर्म दो प्रकार के हैं–(१) सकाम और (२) निष्काम। सकाम कर्म, फल की इच्छा रख कर करने का नाम है, जब कि निष्काम कर्म फल की इच्छा त्याग कर, कर्म (कर्त्तव्य) समझकर, कर्म करने को कहते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि सकाम कर्म से वह वासना उत्पन्न होती है जो फिर उसी प्रकार के कर्म की प्रेरणा भीतर से करती रहती है। योगदर्शन का भाष्य करते हुए व्यासमुनि ने एक संसारचक्र की बात कही है। यह चक्र ६ अरे वाला है। वे अरे ये हैं–मनुष्य इच्छा करता है उसका फल उसे सुख मिलता है, उससे सुख की वासना बनती है। वह फिर उसी प्रकार की इच्छा कराती है। उनसे फिर सुख और फिर वही वासना, फिर वही इच्छा। इस प्रकार (१) इच्छा (२) उसका फल, सुख, (३) सुख की वासना, ये चक्र के तीन अरे हैं, जो बराबर उपर्युक्त भांति घूमा करते हैं। बाकी तीन अरे (१) द्वेष, (२) उसका फल, दुःख, (३) दुःख की वासना है। वे भी पहले तीन अरों की भांति घूमा करते हैं। यही छः अरों वाला संसार-चक्र है, जो संसारी पुरुषों को चक्र में रखता है। इसी चक्र में रहने का नाम कर्म में मनुष्य का या कर्म का मनुष्य में लिप्त होना है। उपनिषद् मनुष्यों का कर्त्तव्य ठहराती है कि कर्म करते हुए भी इस चक्र में न फंसे। फंसे हुए प्राणी इस चक्र से किस प्रकार निकल सकते हैं ? उसका उपाय और एकमात्र उपाय सकामता का निष्कामता में परिवर्तन करना है। इस परिवर्तन से प्रभावित मनुष्य निष्काम कर्म करके वासनाओं का नाश करता है। उनके न रहने से सब सुख-दुःख भी पृथक् हो जाते हैं और सुख-दुःख के न रहने से उनकी वासनाएँ भी नहीं बन सकतीं

और इस प्रचार चक्र के छहों अरे निकम्मे होकर चक्र टूट जाता है और मनुष्य उससे निकल आता है। यही चौथा कर्त्तव्य है, जिसके पालन किये बिना व्यक्ति अध्यात्म-जगत् में प्रवेश का अधिकारी नहीं बन सकता।

पाँचवाँ कर्त्तव्य

उपनिषद् में पाँचवें कर्त्तव्य का विधान इस प्रकार किया गया है–

आत्म-हनन (आत्मा के विपरीत काम) करने वाले मरकर असुर्य (प्रकाश-रहित) और तम से आच्छादित योनियों को प्राप्त होते हैं।

मन्त्र में आत्म-हनन अर्थात् आत्मा के प्रतिकूल कार्य को निषिद्ध ठहराया गया है। आत्मा के प्रतिकूल कार्य नहीं करना चाहिए, इस पर विचार करना है। आत्मा-स्वरूप से शुद्ध और पवित्र है, किसी प्रकार के ईर्ष्या-द्वेषादि दोषों से लिप्त नहीं। इसलिए आत्म-प्रेरणा भी, जिसको अन्तःकरण के अनुकूल कार्य करना [कन्शन्स (Conscience)] कहते हैं, इन दोनों से मुक्त होती है। इसलिए धर्मशास्त्रकार मनु ने भी इसी आत्म-प्रेरणा को 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' कह कर धर्म का अन्तिम साधन बतलाया है।

चरित्र-निर्माण करने का मुख्य साधन भी यही आत्म-प्रेरणा है। चरित्रवान् हुए बिना, मनुष्य अध्यात्म-जगत् में प्रवेश नहीं कर सकता। इसलिए उपनिषद् में इस बात पर विचार करते हुए कि कौन-कौन मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, उसकी गणना में सब से पहला नाम चरित्रहीनों का लिया है–'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।' (कठोपनिषद् १/२/२४)। आत्म-प्रेरणा से किस प्रकार चरित्र निर्मित होता है इसके लिए किसी विशेष व्याख्या की जरूरत नहीं है। चरित्र को ही सदभ्यास भी कहते हैं। अभ्यास एक ही कर्त्तव्य को अनेक बार कार्य-परिणत करने से बना करता है। मनुष्य जब कोई अच्छा या बुरा काम करना चाहता है तो अच्छा काम करने में आत्म-प्रेरणा से उसको उत्साह

और प्रसन्नता उत्पन्न होती है परन्तु जब बुरा काम करने का विचार करता है तो उसके सम्मुख भीतर से भय, लज्जा और शंका के रूप में अनुत्साह और अप्रसन्नता पैदा होती है। पहली सूरत में किसी अच्छे कर्म को अनेक बार करके प्राणी उसके करने का अभ्यास (आदत) बना लेता है और फिर उस काम को वह इच्छा से नहीं किन्तु अभ्यासवश किया करता है। इसी का नाम सदभ्यास या चरित्र है। इसी प्रकार जब कुसंगति में पड़कर कुसंग-दोष से आत्मप्रेरणा के विरुद्ध मनुष्य कोई बुरा काम अनेक बार कर लेता है, तो उसके असदभ्यास बनता है और इससे वह उस बुराई को भी बिना इच्छा के–किन्हीं सूरतों में इच्छा के विरुद्ध भी–अभ्यासवश करने लगता है। कल्पना करो कि एक मनुष्य ने अफयून खाने का बुरा अभ्यास बना लिया है। अब जब दूसरे मनुष्य उसको इस दुष्कर्म की दुष्कर्मता बतलाते हैं तो वह उन्हें स्वीकार कर लेता है, परन्तु जब कहते हैं कि फिर उसे छोड़ क्यों नहीं देते, तब वह अपनी विवशता प्रकट करते हुए कह देता है कि क्या करूं ? आदत से लाचार हूँ।

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मप्रेरणा से सदभ्यास या चरित्र बना करता है और उसके विरुद्ध आचरण करने से असदभ्यास या दुश्चरित्र। हमने देख लिया कि आत्मा के अनुकूल ही कार्य करके हम चरित्र-निर्माण करते हुए आत्म-जग में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर सकते हैं। पश्चिमी विद्वानों ने भी उपनिषद् की सच्चाई के सामने सिर झुकाया है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् मारले ने एक पुस्तक लिखी है, जिस का नाम है 'राजीनामा' (Compromise)। पुस्तक में इस बात पर विचार किया गया है कि किन सूरतों में राजीनामा हो सकता है ? उसने सम्मति के तीन दर्जे किये हैं–

(१) सम्मति का स्थिर करना। (Formation of opinion)

(२) सम्मति का प्रकट करना। (Expression of opinion)

(३) सम्मति का कार्य में परिणत करना। (Execution of opinion)

इस प्रकार से सम्मति के तीन दर्जे करते हुए मारले ने लिखा है कि सम्मति के स्थिर करने में कोई राजीनामा नहीं हो सकता। हाँ, कुछ थोड़ा सा राजीनामा सम्मति के प्रकट करने (संख्या २) में हो सकता है और वह केवल इतना कि जिस सम्मति के प्रकट करने से दुष्परिणामों के निकलने की सम्भावना हो उस सम्मति को प्रकट न किया जाय। यह वही बात है जिसे मनु ने "न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" के द्वारा प्रकट किया है। मारले की सम्मति में पूरा-पूरा राजीनामा सम्मति के कार्य में लाने (संख्या ३) में हो सकता है, अर्थात् अल्पपक्ष की सम्मति की उपेक्षा करके बहुपक्ष के मतानुकूल कार्य किया जाय।' परन्तु उसकी यह स्थिर सम्मति है कि सम्मति के स्थिर करने (संख्या १) में किसी दशा में कोई भी राजीनामा नहीं हो सकता। सम्मति का स्थिर करना क्या है? आत्म-प्रेरणानुकूल किसी विचार का स्थिर करना। अतः यह स्पष्ट है कि मारले ने भी आत्म-प्रेरणा के विरुद्धाचरण का विधान नहीं किया है। कर्त्तव्य-पञ्चक में से यह पाँचवाँ कर्त्तव्य है–"आत्मा के अनुकूल कार्य करना।"

इस प्रकार उपनिषदों ने सब से पहली बात आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए यही बतलाई है कि मनुष्य इन पाँचों कर्त्तव्यों को समझकर इन पर आचरण करे। वे पाँचों कर्त्तव्य ये हैं, एक बार फिर उन्हें हम यहाँ दोहरा देते हैं–

(१) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर का सर्वव्यापक मानना।
(२) जगत् के भोग्य पदार्थों में ममता को छोड़कर अपना प्रयोगाधिकार समझना।
(३) किसी की वस्तु या स्वत्व का अपहरण न करना।
(४) सदैव कर्म करना, उन्हें निष्कामता को लक्ष्य में रखकर धर्म या कर्त्तव्य समझ कर करना।
(५) आत्मा के अनुकूल मन, वाणी और शरीर से आचरण करना।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—वह (ब्रह्म) (अनेजत्) अचल, एकरस (एकम्) एक, (मनसो जवीयः) मन से अधिक वेगवाला है क्योंकि सब जगह पूर्वम् पहले से (अर्षत्) पहुंचा हुआ है। (एनम्) उस ब्रह्म को (देवाः) इन्द्रियां (न आप्नुवन्) नहीं प्राप्त होतीं, अर्थात् वह इन्द्रियों से, उन (इन्द्रियों) का विषय न होने के कारण, प्राप्त नहीं होता। (तत्) वह (तिष्ठत्) अचल होने पर भी (धावतः) दौड़ते हुए (अन्यान्) अन्यों को (अत्येति) उल्लंघन किये हुए है (तस्मिन्) उस ब्रह्म के भीतर (मातरिश्वा) वायु (अपः) जलों को (मेघादि के रूप में) (दधाति) धारण करता है।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तत्) वह ब्रह्म (एजति) गति देता है। (तत्) परन्तु स्वयं (न एजति) गति में नहीं आता (तत्) वह (दूरे) दूर है, (तत् उ, अन्तिके) वह समीप भी है। (तत्) वह (अस्य, सर्वस्य, अन्तः, बाह्यतः) इस सब के अन्दर और बाहर भी है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः तु) जो कोई (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) चराचर जगत् को (आत्मनि एव) परमेश्वर ही में (अनुपश्यति) देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) सम्पूर्ण चराचर जगत् में (आत्मानम्) परमेश्वर को देखता है। (ततः) इससे वह (न विजुगुप्सते) निन्दित नहीं होता।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस अवस्था में (विजानतः) विशेष ज्ञान प्राप्त योगी की दृष्टि में (सर्वाणि भूतानि) सम्पूर्ण चराचर जगत् (आत्मा एव) परमात्मा ही (अभूत्) हो जाता है (तत्र) उस अवस्था में ऐसे (एकत्वम्, अनुपश्यतः) एकत्व देखने वाले को (कः मोहः) कहाँ मोह (कः शोकः) और कहाँ शोक ?

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः ॥८॥

भावार्थ–(सः) वह ईश्वर (परि, अगात्) सर्वत्र व्यापक है (शुक्रम्) जगदुत्पादक, (अकायम्) शरीररहित, (अव्रणम्) शारीरिक विकाररहित, (अस्नाविरम्) नाड़ी और नस के बन्धन से रहित, (शुद्धम्) पवित्र, (अपापविद्धम्) पाप से रहित (कविः) सूक्ष्मदर्शी (मनीषी) ज्ञानी, (परिभूः) सर्वोपरि, वर्त्तमान (स्वयम्भूः) स्वयंसिद्ध (शाश्वतीभ्यः) अनादि (समाभ्यः) प्रजा (जीव) के लिए (याथातथ्यतः) ठीक-ठीक (अर्थान्) कर्म-फल का (व्यदधात्) विधान करता है।

व्याख्या

कर्त्तव्य-पञ्चक का विवरण दिया जा चुका है। उस विवरण में कहा गया था कि इन पाँच कर्त्तव्यों के पालन करने से मनुष्य ब्रह्म-विद्या में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर लेता है। अब प्रश्न यह है कि वह ब्रह्म-विद्या क्या है? जिसमें प्रवेश की इच्छा कम से कम आस्तिक जगत् को रहती है। जिस विद्या में ब्रह्म का वर्णन हो वह ब्रह्म-विद्या कही जाती है। ब्रह्म का वर्णन उसके गुणों द्वारा होता है और उसके गुण वर्णनातीत हैं। फिर उसके समस्त गुणों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है? यह प्रश्न है, जो सदैव ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी को चक्कर में डाल देता है। परन्तु उपनिषदों में इसका अच्छा खासा समाधान मिलता है। जब हम कहते हैं कि हम ब्रह्म-विद्या को प्राप्त करना चाहते हैं तो विचारणीय यह है कि इस विद्या के प्राप्त करने से हमारा उद्देश्य क्या है? हमारा उद्देश्य कदापि यह नहीं हो सकता कि हम ब्रह्म की नाप-तोल करना चाहते हैं अपितु एकमात्र उद्देश्य यह होता है और हो सकता है कि हम अपनी उन्नति करें और उन्नति की चरम सीमा यह हो कि ब्रह्म को प्राप्त कर लें। बस, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन साधनों की अपेक्षा है उनको प्राप्त करना चाहिए। यदि ब्रह्म के केवल १० गुणों के जानने से हमारा उद्देश्य पूरा हो सकता

है, तो ग्यारहवें गुण के जानने के लिए श्रम करना अनावश्यक है। इसलिए उपनिषदों ने ब्रह्म के केवल उन्हीं गुणों के जान लेने की शिक्षा दी है, जो मनुष्य को उन्नति-पथ पर पहुँचा देने के लिए पर्याप्त हैं।

सब से पहली शिक्षा ब्रह्म के विषय में यह है कि तुम उसे व्यक्ति रूप में न मानकर समष्टि रूप में मानो, अर्थात् वह विभु है, परिच्छिन्न नहीं, सर्वदेशी है, एकदेशी नहीं। इस बात का मनवाना उपनिषद् ने इतना अधिक आवश्यक समझा है कि इसको अनेक रीति से वर्णन किया है। हम उसका यहाँ थोड़ा सा विवरण देते हैं–

उपनिषद् ने बतलाया है कि तुम उसे "अनेजत्" (एकरस) समझो। विचार करके देख लो कि एकरस सदैव सर्वदेशी ब्रह्म ही हो सकता है। फिर उपनिषद् ने इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए ब्रह्म के निम्न गुणों का वर्णन किया है–

१. वह मन से भी अधिक वेग वाला है, क्योंकि वह प्रत्येक जगह "पूर्वमर्षत्" पहले से ही पहुँचा हुआ रहता है। इसलिए सर्वदेशी है।

२. इन्द्रियों से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ एकदेशी वस्तु का ही ज्ञान कर सकती हैं।

३. उसी ब्रह्म के अन्तर्गत वायु जलों को बादल के रूप में धारण किये हुए रहता है। जगत् का कोई भाग ऐसा नहीं है जहाँ वायु न हो। जहाँ कहीं स्पष्ट रूप से वायु नहीं होता, वहाँ आकाश (Ether) होता है। इस प्रकार से जगद्व्यापी वायु उसी ब्रह्म के अन्तर्गत अपना कार्य करता है।

४. वह गति देता है, परन्तु स्वयं गति में नहीं आता। ब्रह्म का सृष्टि-कर्त्तव्य केवल इतने ही से प्रारम्भ होकर पूर्णता प्राप्त कर लेता है कि वह उस समय जब प्रलय के बाद जगत् उत्पन्न होता है और प्रकृति विकृति होना चाहती है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह शान्त और स्तब्ध प्रकृति में एक गति का संचार करता है, जिससे प्रकृति की शान्ति और स्तब्धता भंग होकर क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल भूतों की उत्पत्ति होकर, प्रलय, सृष्टि रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसी गति को विज्ञान में गति-शक्ति (Energy) नाम दिया गया है।

पञ्चभूत, प्रकृति और ब्रह्मप्रदत्त गति के लिए संघात का नाम है "Matter Combined with Energy"। यहाँ एक शंका उत्पन्न हुआ करती है कि गति के गतिदाता से पृथक् कुछ आकाश (Space) होना चाहिए तभी तो वह गति दे सकता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। ब्रह्म को उस गति के देने के लिए किसी प्रकार की हरकत करने की कोई जरूरत नहीं होती, और न उसमें हरकत होती है, क्योंकि वह एकदेशी नहीं, सर्वदेशी है यह गति जो प्रकृति में एक आलमगीर हलचल पैदा कर देती है, ब्रह्म के केवल ईक्षण (प्राप्त वस्तु को कार्य में लगाने की इच्छा) मात्र से, बिना किसी हरकत के, उत्पन्न हो जाती है। पश्चिमी वैज्ञानिक भी इच्छा से गति होने के सिद्धान्त को "Will proceeds motion" कहकर समर्थन करते हैं। अतः स्पष्ट है कि ब्रह्म इस प्रकार की गति का दाता होने पर भी स्वयं गति में नहीं आता। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू[१] ने भी उपनिषत् के इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। अरस्तू ने आमतौर से ईश्वर को unmoved mover कहा है।

५. वही दूर है वही समीप है, वही सब के भीतर और वही सब के बाहर है अर्थात् सब जगह है।

६. जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतों, चराचर जगत् को उस ब्रह्म के अन्दर और ब्रह्म को उन सम्पूर्ण भूतों के अन्दर देखता है वह घृणारहित हो जाता है। इसी का नाम विश्व-प्रेम है जो उपनिषद् की पहली ही शिक्षा के अन्तर्गत है और जिसे ब्रह्म-विद्या का पहला ही पाठ कहना चाहिए। जब ब्रह्म प्रत्येक प्राणी के अन्तर्गत है तब प्रंत्येक प्राणी के शरीर ईश्वर के मन्दिर ही हुए और इसलिए सब को प्रत्येक प्राणी से प्रेम करना पड़ता है और इसलिए वह सब के प्रति घृणारहित हो जाता है।

७. यह ब्रह्म सर्वत्र पहुँचा हुआ है और शरीररहित फोड़े-फुंसी के विकारों से पाक (रहित) और नाड़ी-नस के बन्धन से पृथक् और सर्वव्यापक है।

---

1. *God is merely the source of movement, the First mover* (आदिकारण) *Who himself is never moved.*

(The AGE of Aristotle p. 46)

इस प्रकार हमने देख लिया कि नौ प्रकार से वर्णन करके उपनिषद् ने इस शिक्षा को अधिक से अधिक स्पष्ट किया है–

१. ब्रह्म सर्वदेशी है, यह ब्रह्म का पहला गुण है, जो ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी के हृदय में सब से पहले अंकित हो जाना चाहिए। बिना इस को समझे, बिना इस पर श्रद्धा और विश्वास किये, हम ब्रह्म-विद्या के स्वच्छ और उन्नत पथ की ओर कदम भी नहीं बढ़ा सकते।

२. ब्रह्म का दूसरा गुण एकत्व है, अर्थात् ब्रह्म एक ही है। दूसरा, तीसरा, चौथा आदि नहीं, इस का उपासक को दृढ़ विश्वास होना चाहिए।

३. ब्रह्म का तीसरा गुण 'शुक्रम्' अर्थात् जगत् का आदिमूल कारण होना है।

४. चौथा 'शुद्धम्' गुण है, अर्थात् ब्रह्म की शुद्धता को लक्ष्य में रखते हुए ब्रह्म की समीपता प्राप्त करने के लिए उपासक को जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा और निर्मल ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिए, तभी वह ब्रह्म-विद्या का विद्यार्थी बन सकता है।

५. पाँचवाँ गुण 'अपापविद्धम्' है। मनुष्य को भी निष्पाप बनने के लिए पाप के मूल विपरीत-मिथ्या-ज्ञान का बहिष्कार करना चाहिए।

६. 'कवि' छठा गुण ब्रह्म का है। कवि, क्रान्तदर्शी, सर्वद्रष्टा तथा सर्वज्ञ को कहते हैं।

७. 'मनीषी' ब्रह्म का सातवां गुण है, जो ब्रह्म के पूर्ण ज्ञानी होने की घोषणा करता है।

८. 'स्वयम्भू' गुण प्रकट करता है कि ब्रह्म अपनी सत्ता से आप स्थिर (कायमबिल्जात) है, कि किसी का मुंहताज नहीं।

९. 'फलदाता' गुण अर्थात् ब्रह्म अपनी अनादि प्रजा जीव के कर्मों के फलों का 'याथातथ्यतः' ठीक-ठीक विधान किया करता है। कर्म का फल न्यून या अधिक नहीं हो सकता।

'बस उपनिषदों ने मनुष्यों के लिए इन्हीं नौ गुणों का ज्ञान लेना और उन को अपने अन्तःकरण में धारण कर लेना अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति तक के लिए, पर्याप्त बतलाया है। ब्रह्म को हम किस प्रकार अपने हृदय में धारण करें अथवा यों कहिये कि हम किस प्रकार अपने आत्मा को उन्नत करें, इस के लिए उपासक को इन गुणों का मानसिक जप करना होगा। केवल मुँह से किसी शब्द का रटना जप नहीं है, किन्तु हृदय से उस शब्द के अर्थ का चिन्तन, जप का उत्तरार्द्ध और जप का मुख्य और आवश्यक अंग है।[१] आत्मा की उन्नति या ब्रह्म की प्राप्ति के उद्योग का आरम्भ इसी जप से होता है। इस जप से उपासक का आत्मा ईश्वरीय गुणों से भासित होता है और उसमें गुण–वृद्धि हुआ करती है। इसी को उपासना का पहला अंग भी कहते हैं। उपासना का दूसरा और अन्तिम अंग ब्रह्म को हृदय में धारण कर लेना है। पहले अंग में जहाँ वाचक (शब्द) को समझते हुए हृदय में रखा जाता है, दूसरे अंग में हृदय को वाच्य (अर्थ) का मन्दिर बनाना पड़ता है, अर्थात् वाच्यों को हृदय (आत्मा) में रखा जाता है। ब्रह्मविद्या के पहले अंग की प्राप्ति के उद्योग का सूत्रपात सन्ध्या से किया जाता है और दूसरे अंग की पूर्ति अष्टांगयोग के अन्तिम अंगों से होती है, सन्ध्या को भी सन्ध्यायोग इसीलिए कहते हैं। सन्ध्या के उपासकों को भी निम्न योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए–

१. शारीरिक उन्नति अर्थात् समस्त इन्द्रियाँ बलवान्, पवित्र और यशवाली होनी चाहिए।
२. मानसिक उन्नति अर्थात् हृदय द्वेष से रहित होना चाहिए और प्राणायामादि के द्वारा उसमें प्रत्याहार की प्राप्ति की योग्यता उत्पन्न हो जानी चाहिए।
३. आत्मिक उन्नति, इसके लिए उपासना के प्रथम अंग, वाचक (शब्द) की हृदय में धारण करने का अभ्यास करना चाहिए।

इतना कार्य सन्ध्या से हुआ करता है और इसी के लिए सन्ध्या की जाती है और करनी चाहिए। वाचक (शब्द) के हृदय में धारण करने

१. तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योगदर्शन)

का फल यह होता है कि मनुष्य का हृदय ईश्वरीय गुणों के आलोक से आलोकित हो उठता है और विश्व प्रेम का आभास होने लगता है। जप अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। इस से स्मृति का भी विकास होता है। योग के इस सिद्धान्त को पश्चिम के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध राजनैतिक ग्लैडस्टोन के लिए कहा जाता है कि उसने सम्पूर्ण होमरकृत इलियट को रट रखा था। जहाँ से कोई चाहे वह सुना सकता था, इसी से उस की स्मृति बहुत उच्च कोटि की थी। परन्तु जप का अर्थ केवल Cat (बिल्ली) और Dog (कुत्ता) के अर्थ का रटना नहीं है। वह जप, जिस का ऊपर विधान किया गया है, चित्त के उन्नत करने का साधन और मुख्य साधन है।

ब्रह्म को किस प्रकार उपासक (योगी) हृदय में धारण कर सकता है ? यह बात है जो ब्रह्म-विद्या का अन्तिम पाठ है और यह पाठ उपनिषद् ने इस प्रकार दिया है कि–

"जिस अवस्था में समस्त चराचर जगत् को योगी परमेश्वर हुआ ही जानने लगता है, तब ऐसे एकत्व को देखने वाला (योगी) मोह और शोक से छूट जाता है।"

उपनिषद्-वाक्य एक अवस्था-विशेष का संकेत करता है। वह अवस्था-कौन सी है ? यही प्रश्न है, जिस पर विचार करना है। योग के अंगों में प्राणायाम के पश्चात् पाँचवें अंग से शरीर के भीतर इष्ट परिवर्तनों के करने का विधान है, मनुष्य की शक्ति अन्तः और बाह्य करणों में साधारणतया फैली हुई रहती है और इसलिए योगी के सिवाय कोई मनुष्य अपनी पूर्ण शक्ति को किसी काम में नहीं लगा सकता। जब योगी अपनी समस्त शक्तियों को भीतर एकत्रित करना चाहता है तब यह उद्देश्य प्रत्याहार के अभ्यासों द्वारा पूरा किया जाता है। प्रत्याहार समस्त शक्ति को केन्द्रित करने की कार्य-प्रणाली ही का नाम है। उस समस्त (प्रत्याहार द्वारा) एकत्रित शक्ति को किसी एक लक्ष्य पर लगा देने का नाम धारणा है और उसी एकत्रित शक्ति को किसी एक स्थान पर न लगाकर आत्मा में लगा देने का नाम ध्यान है, और इसी की उच्चावस्था को समाधि कहते हैं। इस प्रकार समस्त शक्ति को आत्मा में लगा देने को ध्यान कहा गया है, परन्तु

योगी आत्मा में शक्तियों को लगाने का कोई साक्षात् यत्न नहीं कर सकता। हाँ, इस कार्य की पूर्ति असाक्षात् यत्नों से हुआ करती है अर्थात् कोई भी अपनी शक्तियों को साक्षात् यत्नों से आत्मा के अन्दर लगा नहीं सकता, परन्तु विशेष अवस्था के उत्पन्न कर लेने से वह शक्ति स्वयमेव आत्मा में लग जाया करती है। उसी असाक्षात् यत्न का नाम ध्यान है, ध्यान के समझने में आमतौर से गलती की जाया करती है, निराकार ईश्वर के ध्यान की बात आते ही लोग कहने लगते हैं कि जिस की कोई शक्ल नहीं, सूरत नहीं, रूप नहीं, भला किस प्रकार कोई उसका ध्यान कर सकता है ? ऐसे पुरुषों के मतानुसार ध्यान किसी बाह्य रूप-रंग वाली वस्तु को भीतर हृदय में लाने का नाम है परन्तु बात सर्वथा इसके विपरीत है। ध्यान बाहर से किसी वस्तु को भीतर लाने को नहीं कहते किन्तु भीतर (हृदय में) जो कुछ भी हो उस सब को निकाल कर बाहर फेंक देने का नाम ध्यान है, इसलिए सांख्य के आचार्य कपिल ने कहा है–

"ध्यानं निर्विषयं मनः।"

अर्थात् सांख्य की परिभाषानुसार ध्यान मन को निर्विषय करने को कहते हैं। मन को निर्विषय करने का अर्थ यह है कि मन का इन्द्रियों से काम लेना, जिससे जाग्रतावस्था बना करती है, छूट जाय तथा मन का अपने, भीतर काम करना भी जिससे स्वप्नावस्था निर्मित होती है बन्द हो जाये।

इसका तात्पर्य यह है कि जाग्रतावस्था ही में योगी अपनी वह अवस्था बना ले जो सुषुप्ति में हुआ करती है और जिस में मन पूर्ण रीति से निष्क्रिय (निर्विषय) हुआ करता है। आत्मा की दो प्रकार की शक्तियाँ हैं, एक वह जो सूक्ष्म और स्थूल शरीर द्वारा, जगत् में काम करती है और जिसे आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति कहते हैं दूसरी वह जो आत्मा के अन्दर काम करती है और जिसका नाम अन्तर्मुखी वृत्ति है। दोनों वृत्तियों में से एक वृत्ति प्रत्येक समय काम किया करती है, न दोनों वृत्तियां एक साथ काम करती हैं और न दोनों एक साथ बन्द हो जाती हैं। यह एक वृत्ति बन्द कर दी जाये तो दूसरी स्वयमेव काम करने लगती है।

बहिर्मुखी वृत्ति के बन्द करने का नाम ही मन को निर्विषय करना है. मन के निर्विषय करने के साधन ध्यान के अभ्यास हैं। इस प्रकार मन के निर्विषय हो जाने मात्र से आत्मा की अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जारी हो जाती है। जिस प्रकार नहर का फाटक बन्द कर देने से समस्त जल-स्वयमेव नदी की धारा में प्रवाहित होने लगता है और इस अन्तिम कार्य के लिए किसी प्रकार का यत्न अपेक्षित नहीं होता, इसी प्रकार नहर रूपी बाह्यवृत्ति बन्द होने से आत्मा-रूपी नदी में अन्तर्मुखी वृत्तिरूप जल स्वयमेव प्रवाहित हो जाता है।

यही वह अवस्था है जिसका उपर्युक्त मन्त्र में उल्लेख है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने ही से योगी एकत्वदर्शी हो जाता है। ध्यान की अवस्था में ध्यानावस्थित योगी समझता है कि वह ध्याता है और किसी ध्येय की प्राप्ति के लिए ध्यान रूपी क्रियाएँ करता है। परन्तु जब ऊँची समाधि अवस्था में पहुँचता है तब ध्याता और ध्यान दोनों का ज्ञान तिरोहित हो जाता है और केवल ध्येय (ईश्वर) ही उसके समस्त ज्ञान का लक्ष्य रह जाता है और उस समय योगी की वही अवस्था होती है जिसके लिए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है–

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

मुं० २/२/११/

अर्थात्–(इदम्, अमृतम्) यह अमृत रूप (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है (पुरस्ताद ब्रह्म) आगे ब्रह्म है (पश्चात् ब्रह्म) पीछे ब्रह्म है (दक्षिणत:) दाहिने (च) और (उत्तरेण) बाएं (अध:) नीचे (च) और (ऊर्ध्व) ऊपर भी (प्रसृतम्) फैला हुआ ब्रह्म ही है (इदम् विश्वम्) वह सब विश्व (इदम् वरिष्ठम्) यह अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है। भाव इसका यह है कि उस ज्ञानी को सब ओर ब्रह्म ही दिखाई देता है। इसी अवस्था के लिए एक कवि ने कहा है–

जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है॥

उपनिषत् के इसी भाव को कुछेक अन्य कवियों ने सुन्दरता से अपनी कविताओं में समाविष्ट किया है–

दिया अपनी खुदी[१] को जो हमने मिटा।
वह जो परदा सा बीच में था, न रहा॥

रही परदे में अब न वो परदे-नशीं।
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा॥ १ ॥

जलवे से तिरे भर गईं, इस तरह से आँखें।
हो कोई भी, आता है फकत तू ही नजर में॥ २ ॥

आप ही आप हैं यहां, गैर का कुछ काम नहीं।
जातेमुत्लक[२] में तिरे शक्ल नहीं नाम नहीं॥ ३ ॥

याद में उनकी ऐसे महव[३] हुए।
अपनी सुध बुध रही न कुछ बाकी॥ ४ ॥

बेखुदी[४] छा जाय ऐसी दिल से मिट जाय खुदी।
उनके मिलने का तरीका, अपने खो जाने में है॥ ५ ॥

जब मैं था तब हर नहीं जब हर तब मैं नाय।
प्रेम-गली अति सांकरी ता में दो न समाय॥ ६ ॥

इक जान होके चलते हैं, मैं-तू को छोड़कर।
उलफत की तंग राह में दो की गुजर नहीं॥ ७ ॥

समस्त चराचर जगत् में योगी ब्रह्म के सिवाय कुछ नहीं देखता। जब उसने अपने प्रेमपात्र के प्रेम के आधिक्य में अपनी ही सुध-बुध विसार दी है, तब प्रकृति के ईंट-पत्थरों की उसे किस प्रकार चिन्ता रह सकती है और वह कैसे मोह, शोक के बन्धन में रह सकता है? यही ब्रह्म-विद्या का अन्तिम पाठ है कि जिसमें जीव अपनी सत्ता कायम रखते हुए भी, उससे बेसुध सा रहता है और ध्येय (ब्रह्म) के सिवा कुछ भी उसकी स्मृति ध्यान या अनुभव का विषय नहीं रह जाता। इसी अवस्था के प्राप्त कर लेने पर योगी का नाम जीवनमुक्त हो जाता है और इसी अवस्था वाले योगी शरीर के छूटने

१. खुदी–अहंकार। २. जातेमुत्लक–ईश्वर की असीम सत्ता। ३. महव–लवलीन। ४. बेखुदी–निरहंकारिता।

पर आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। इसी अवस्था पर पहुँचे हुए योगी के लिए उपनिषद् में कहा गया है–"स यो ह वै तत्परम् ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।" (मुण्डकोपनिषद् ३/२/९) अर्थात् वह, जो इस परब्रह्म को जान लेता है, ब्रह्म ही हो जाता है। कई विद्वान् इसका अर्थ करते हुए कह दिया करते हैं कि ब्रह्मवित् ब्रह्म के सदृश हो जाता है। परन्तु इस प्रकार के अर्थ करने की जरूरत नहीं। इस वाक्य में प्रयुक्त 'भवति' क्रिया से स्पष्ट है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था, अब हुआ है तो वह आदि ब्रह्म हुआ, परन्तु जिस ब्रह्म के जानने से ब्रह्मवित् हुआ है वह अनादि ब्रह्म है। यह अन्तर सदैव ब्रह्मवित् में बना रहता है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः॥ ९॥

भाषार्थ–(ये) जो (अविद्याम्) कर्म को (ज्ञान की उपेक्षा करके) (उपासते) सेवन करते हैं, वे (अन्धन्तमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं। (ये उ) और जो (कर्म की उपेक्षा करके केवल) (विद्यायाम्) ज्ञान में (रताः) रमते हैं (ते) वे (ततः) उससे (भूयः, इव) भी अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्याहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥

भाषार्थ–(विद्यायाः) ज्ञान का (अन्यत्, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (अविद्यायाः) कर्म का (अन्यत् एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (इति) ऐसा हम (धीराणाम्) धीर पुरुषों से (शुश्रुम) सुनते हैं। (ये) जो (नः) हमारे लिए (तद्) उसका (विचचक्षिरे) उपदेश करते हैं।

विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥११॥

भाषार्थ–(यः) जो (विद्याम् च अविद्याम् च) ज्ञान और कर्म (तत् उभयम्) इन दोनों को (सह) साथ-साथ (वेदं) जानता है वह

(अविद्यया) कर्म से (मृत्यु) मृत्यु को (तीर्त्वा) तैर कर (विद्यया) ज्ञान से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

व्याख्या

इन मन्त्रों में विद्या और अविद्या का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त वर्णन किया गया है। यहीं से उपनिषद् का तीसरा भाग प्रारम्भ होता है, जिसमें मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान किया गया है।

विद्या ज्ञान को कहते हैं, यह तो निर्विवाद ही है। अविद्या के दो अर्थ किये जाते हैं–एक पारिभाषिक दूसरा यौगिक। दर्शनों में प्राय: अविद्या पारिभाषिक अर्थ, 'मिथ्याज्ञान' लिया जाता है। परन्तु अविद्या का यौगिक अर्थ 'विद्या से भिन्न' है, (अविद्या) जो विद्या अर्थात् ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान नहीं वह क्या ? इस प्रश्न का उत्तर इन मन्त्रों का देवता (मन्त्र का विषय) देता है। इन मन्त्रों का देवता आत्मा है। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म ही हैं। इच्छा द्वेषादि चार चिह्न हैं, जो शरीर में आत्मा के होने के समझे जाते हैं। शरीर की बनावट भी आत्मा के स्वाभाविक गुणों की साक्षी है। शरीर में दो ही प्रकार की इन्द्रियाँ हैं–ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा के ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ आत्मा के कर्म गुण को सार्थक करने के लिए हैं। यदि तीसरा कोई स्वाभाविक गुण और होता तो शरीर में तीसरे प्रकार का अन्य इन्द्रिय समुदाय भी उस गुण के साधन रूप होने के लिए बना हुआ दृष्टिगोचर होता। अत: आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म दो ही हैं। विद्या-ज्ञान को कहते हैं जैसा कि कहा जा चुका है और ज्ञान से भिन्न कर्म ही है। इसलिए स्पष्ट हो गया कि अविद्या का अर्थ कर्म है। अब इन मन्त्रों का अर्थ भी साफ हो गया कि केवल ज्ञान का या केवल कर्म का सेवन करना अन्धकार में पड़ना है। सिद्धान्त यह है कि ज्ञान और कर्म दोनों का प्रयोग साथ-साथ करना चाहिए। वेदों का यह शाश्वत सिद्धान्त है जो तीनों कालों में एक जैसी उपयोगिता रखता है। ज्ञान उपलब्ध करके उसको कार्य में परिणत करना ही मनुष्य-जीवन का सब से बड़ा उद्देश्य है। इसलिए वेद नित्योपयोगी (Up to date) समझे जाते हैं।

मन्त्रों की विशेषता

इन मन्त्रों की एक विशेपता है, और यही विशेपता वेदों की महत्ता की द्योतक है। वह विशेपता यह है कि अन्तिम मन्त्र में, ज्ञान और कर्म का उद्देश्य वर्णन कर दिया गया है, और यह उद्देश्य सब से बड़े बन्धन-मृत्यु के बन्धन से पार होकर अमरता को प्राप्त करना है, आधुनिक कर्म और ज्ञान तथा वेदों के कर्म और ज्ञान में यही बड़ा विभेदक अन्तर है। आधुनिक ज्ञान और कर्म, साइन्स (Science) और आर्ट (Art) है। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopedia Britannica) के शब्दों में (Science consists in knowing) और (Art consists in doing) अर्थात् साइन्स ज्ञान और आर्ट कर्म ही का नाम है।

आधुनिक ज्ञान और कर्म उद्देश्य रहित हैं

परन्तु इन ज्ञान और कर्म का कोई उद्देश्य नहीं है। इसलिए ये मृत्यु के बन्धन को छुड़ाने की जगह उस बन्धन को और भी दृढ़ करने के काम में लगे हुए हैं। इस समय साइन्स के एक बड़े और महत्त्वपूर्ण विभाग का कार्य, युद्ध से सम्बन्धित (Chemical Warfare Service) केवल यह है कि नई-नई जहरीली गैसों और बम बनाने के तरीकों की खोज और ईजाद करे। टी०ए० एडीसन (T.A. Edison) महाशय, जो वर्तमान काल के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों में समझे जाते हैं, लिखते हैं कि जहरीली गैस-जो अमेरिका में बनायी गयी थी और जिसे जर्मन और जापानी वैज्ञानिकों ने परिष्कृत किया है-ऐसी घातक है कि यदि एक वह छोटे हवाई जहाज के बेड़े से लन्दन नगर पर जो पृथिवी का सब से बड़ा नगर है और जिसकी आबादी ८० लाख के लगभग है-छोड़ी जाये तो तीन घण्टे में उसे नष्ट कर देगी। अमरीका की १९१८-२० तक की उपर्युक्त विभाग की रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट रीति से वर्णित है कि जहरीली गैसें अमेरिका में ८१० टन, इंग्लैण्ड में ४१० टन और जर्मनी में २१० टन प्रति सप्ताह तैयार होती है। ये सब गैसें इसलिए

मन्त्रों की विशेषता

इन मन्त्रों की एक विशेषता है, और यही विशेषता वेदों की महत्ता की द्योतक है। वह विशेषता यह है कि अन्तिम मन्त्र में, ज्ञान और कर्म का उद्देश्य वर्णन कर दिया गया है, और यह उद्देश्य सब से बड़े बन्धन-मृत्यु के बन्धन से पार होकर अमरता को प्राप्त करना है, आधुनिक कर्म और ज्ञान तथा वेदों के कर्म और ज्ञान में यही बड़ा विभेदक अन्तर है। आधुनिक ज्ञान और कर्म, साइन्स (Science) और आर्ट (Art) है। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopedia Britannica) के शब्दों में (Science consists in knowing) और (Art consists in doing) अर्थात् साइन्स ज्ञान और आर्ट कर्म ही का नाम है।

आधुनिक ज्ञान और कर्म उद्देश्य रहित हैं

परन्तु इन ज्ञान और कर्म का कोई उद्देश्य नहीं है। इसलिए ये मृत्यु के बन्धन को छुड़ाने की जगह उस बन्धन को और भी दृढ़ करने के काम में लगे हुए हैं। इस समय साइन्स के एक बड़े और महत्त्वपूर्ण विभाग का कार्य, युद्ध से सम्बन्धित (Chemical Warfare Service) केवल यह है कि नई-नई जहरीली गैसों और बम बनाने के तरीकों की खोज और ईजाद करे। टी०ए० एडीसन (T.A. Edison) महाशय, जो वर्तमान काल के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों में समझे जाते हैं, लिखते हैं कि जहरीली गैस-जो अमेरिका में बनायी गयी थी और जिसे जर्मन और जापानी वैज्ञानिकों ने परिष्कृत किया है-ऐसी घातक है कि यदि एक वह छोटे हवाई जहाज के बेड़े से लन्दन नगर पर जो पृथिवी का सब से बड़ा नगर है और जिसकी आबादी ८० लाख के लगभग है-छोड़ी जाये तो तीन घण्टे में उसे नष्ट कर देगी। अमरीका की १९१८-२० तक की उपर्युक्त विभाग की रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट रीति से वर्णित है कि जहरीली गैसें अमेरिका में ८१० टन, इंग्लैण्ड में ४१० टन और जर्मनी में २१० टन प्रति सप्ताह तैयार होती है। ये सब गैसें इसलिए

जमा की जा रही हैं और ऐटमिक बम (Atomic Bomb) इसलिए बनाया गया है कि भावी, अनिवार्य युद्ध में शीघ्र से शीघ्र, अधिक से अधिक मनुष्यों का संहार किया जा सके। अस्तु, हमने देख लिया कि उद्देश्य रहित होने से, आधुनिक पश्चिमी जगत् के ज्ञान और कर्म, किस प्रकार प्राणियों के संहार करने में लगे हुए हैं, जबकि वेदों के ज्ञान और कर्म मनुष्य को अमर बनाने के उत्कृष्टतम साधन हैं।

ज्ञान से कर्म की विशेषता

पहले मन्त्र में एक बात और भी है, जिस पर ध्यान देना चाहिए और वह बात यह है कि मन्त्र में कहा गया है कि जो केवल ज्ञान का सेवन करते हैं, वे उनसे अधिक अन्धकार में पड़ते हैं जो केवल कर्म का आश्रय लेते हैं। इस का कारण यह है कि ज्ञान मात्र का कोई फल नहीं मिलता, परन्तु कर्म जितना भी करेगा चाहे वह कितना भी उल्टा-सीधा क्यों न हो, उसका कुछ न कुछ फल अवश्य ही मिलता है। इसलिए उपनिषत् की शिक्षा में कर्म का बहुत ऊँचा स्थान है, यह बात कभी किसी अध्यात्म विद्या के विद्यार्थी को नहीं भूलनी चाहिए। यहीं से गीताकार ने कर्मयोग की शिक्षा ली है।

मनुष्य के पहले कर्त्तव्य का विधान विद्या-अविद्या सम्बन्धी तीन मन्त्रों में कर दिया गया। इस कर्म और ज्ञान का क्षेत्र क्या होना चाहिए। इसका वर्णन आगे के तीन मन्त्रों में दिया गया है। इन मन्त्रों का भाव समझना और उनमें वर्णित शिक्षानुकूल आचरण करना मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य है। इन दो कर्त्तव्यों से भिन्न मनुष्य-जीवन का और कोई भी ऐसा कर्त्तव्य जो इसके कल्याण के लिए अपेक्षित हो, बाकी नहीं रहता। इन्हीं में सब का समावेश है। दूसरे कर्त्तव्य के विधायक तीन मन्त्र ये हैं–

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥ १२ ॥

भाषार्थ–(ये) जो (असम्भूतिम्) कारण प्रकृति–कारण शरीर का (अन्य शरीरों की उपेक्षा करके) (उपासते) सेवन करते हैं, वे

(अन्धन्तमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं, (ये उ) और जो (सम्भूत्याम्) कार्य प्रकृति-सूक्ष्म शरीर + स्थूल शरीर में (कारण शरीरों की उपेक्षा कर के (रताः) रमते हैं (ते) वे (तत्) उससे (भूय, इव) भी अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

भाषार्थ–(सम्भवात्) कार्यप्रकृति-सूक्ष्म-स्थूल शरीर का (अन्यत् एव) और ही फल (आहु): कहते हैं (असम्भवात्) और कारणप्रकृति-कारण शरीर से (अन्यत्, एव) और ही फल, (आहुः) कहते हैं (इति) इस प्रकार (धीराणाम्) धीर पुरुषों के (वचन) (शुश्रुम) हम सुनते हैं (ये) जो (नः) हमारे लिये (तत्) उन (वचनों) का (विचचक्षिरे) उपदेश कर गये हैं।

सम्भूतिं च विनाशञ्च यस्तद् वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

भाषार्थ–(यः) जो कोई (सम्भूतिम्) कार्य रूप प्रकृति = सूक्ष्म + स्थूल शरीर (च) और (विनाशम्) कारण रूप प्रकृति = कारण शरीर (तत् + उभयम्) उन दोनों को (सह) साथ-साथ वेद जानता है, वह (विनाशेन) कारण शरीर से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) तैर कर (सम्भूत्या) कार्य शरीर से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

व्याख्या

इन मन्त्रों का मुख्य विषय सम्भूति और असम्भूति का ज्ञान है। सम्भूति का कार्य-प्रकृति और असम्भूति कारणस्वरूप प्रकृति को कहते हैं। तीसरे मन्त्र में असम्भूति की जगह विनाश शब्द आया है। 'वि' उपसर्ग हाँ और 'नहीं' दोनों अर्थों में आता है। जैसे विधर्म और विदेश आदि। यहाँ भी 'वि' निषेधक ही है अर्थात् जिसका नाश न हो सके वह विनाश है। इस प्रकार यह शब्द असम्भूति का पर्यायवाचक ही ठहरता है परन्तु ये असम्भूति और सम्भूति शब्द जब आत्मा से सम्बन्धित होते हैं, तब इनके अर्थ कारण और कार्य होते हैं। कारण शरीर की कल्पना घटाकाश-मठाकाशवत् है। जगत् में

व्यापक कारण रूप प्रकृति का जो अंश हमारे अन्दर है उसी का कल्पित नाम कारण शरीर है। कार्य शरीर दो हैं–सूक्ष्म और स्थूल। इन तीनों के काम पृथक्-पृथक् हैं–

(१) स्थूल शरीर–सूक्ष्म शरीर का साधन है। उसी के द्वारा विषयमय जगत् से सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध होता है, स्थूल शरीर के विकसित और पुष्ट होने से शारीरिकोन्नति होती है। राममूर्ति और सैण्डो आदि इसके उदाहरण हैं।

(२) सूक्ष्म शरीर–१७ वस्तुओं के समुदाय का नाम है–

५ ज्ञानेन्द्रिय

५ सूक्ष्म विषय–तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)

५ प्राण (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान)

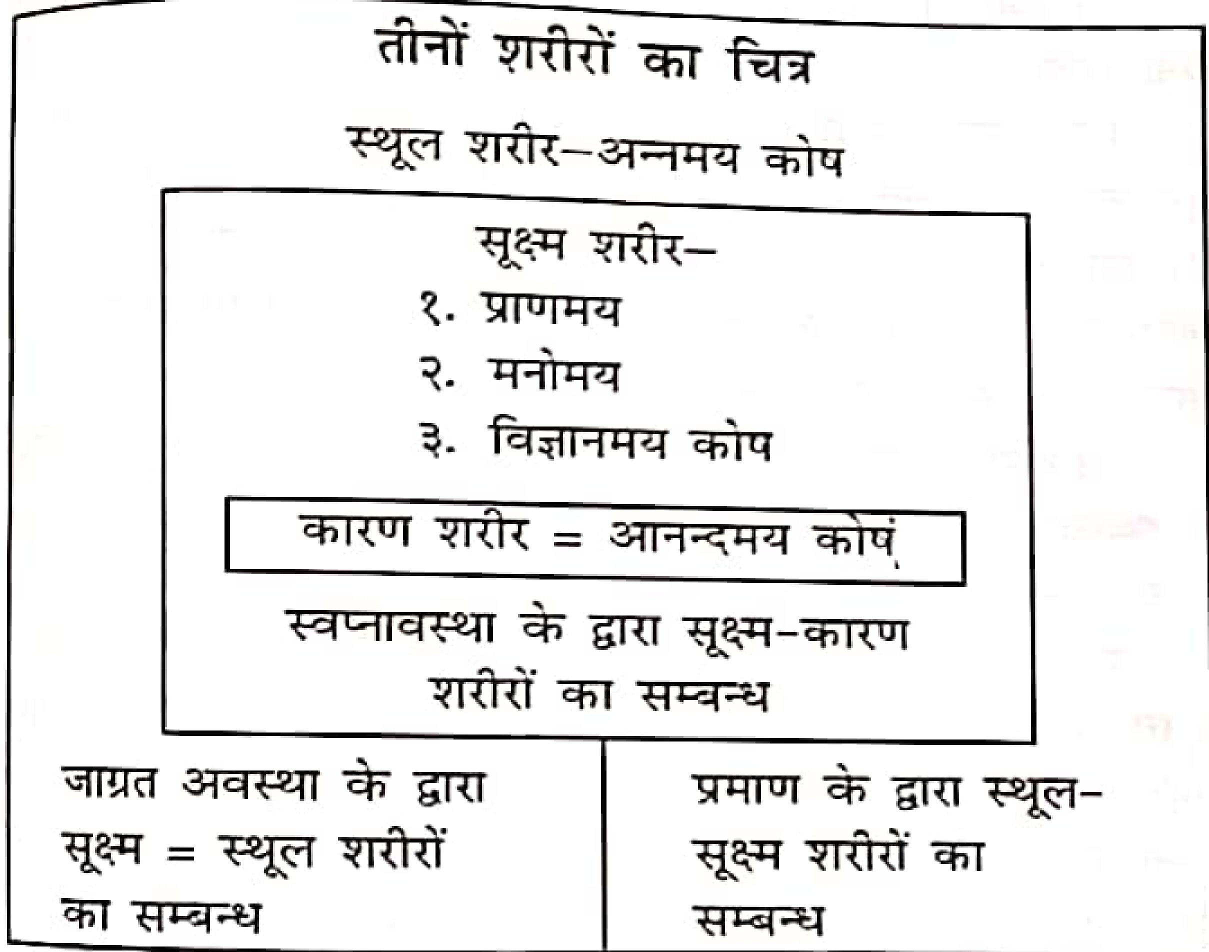
१ मन

१ बुद्धि

योग १७

सूक्ष्म शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मानसिकोन्नति होती है। मानसिकोन्नति किये हुए पुरुष जाति के नेता, राजा और उच्च राज्य कर्मचारी हुआ करते हैं और कारण-शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मनुष्य में ईश-प्रेम आता है और वह भक्त और योगी बना करता है। आशय यह है कि तीनों प्रकार के शरीर उन्नत होने चाहिए। शरीरों का इतना विवरण जान लेने से इन मन्त्रों के अर्थ समझ लेने में सुगमता हो जाती है। मन्त्र कहता है कि यदि स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की उपेक्षा करके केवल कारण शरीर की उन्नति चाहते हो तो अन्धकार में पड़ना पड़ेगा, क्योंकि बिना स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के उन्नत हुए कारण शरीर को उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। और यदि कारण शरीर की उपेक्षा करके केवल कार्य शरीर स्थूल + सूक्ष्म शरीरों को उन्नत करना चाहते हो तो भी भविष्य अन्धकारमय होगा, क्योंकि इस से नास्तिकता उत्पन्न होगी। जैसे चार्वाक और यूरोप के प्रकृतिवादी नास्तिक विद्वान्। इसीलिए तीसरे मन्त्र में, सिद्धान्त और कर्त्तव्य रूप से, यह शिक्षा दी गई है कि दोनों प्रकार के शरीरों की उन्नति साथ-साथ होनी चाहिए, तभी मृत्यु का

बन्धन छूट सकता है। मृत्यु का बन्धन किस प्रकार छूट सकता है यही अन्तिम प्रश्न है, जो इन मन्त्रों के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का उत्तर सुगमता से समझ में आ जावे इसलिए हम इन शरीरों का एक कल्पित चित्र नीचे देते हैं–



इन्हीं तीनों शरीरों का विभाग एक और प्रकार से किया गया है जिसे कोष कहते हैं उसका विवरण इस प्रकार है–

(१) स्थूल शरीर–अन्नमय कोश

(२) सूक्ष्म शरीर–१. प्राणमय, २. मनोमय, ३. विज्ञानमय कोश।

(३) कारण शरीर–आनन्दमय कोश

योग–३ शरीर–५ कोश

इन तीनों शरीरों के दो सम्बन्ध हैं–

(१) अवस्थाओं के द्वारा सम्बन्ध।

(२) प्राण के द्वारा सम्बन्ध।

पहले सम्वन्ध पर विचार

पहला सम्वन्ध जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं द्वारा होता है, जिसका विवरण इस प्रकार है—

(१) **जाग्रत् अवस्था**—इस अवस्था में तीनों शरीरों का सम्वन्ध वना रहता है।

(२) **स्वप्नावस्था**—इस में सूक्ष्म और स्थूल शरीर का सम्वन्ध टूट जाता है, परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर का सम्वन्ध वना रहता है। इस का परिणाम यह होता है कि इन्द्रियों का व्यापार बन्द हो जाता है, परन्तु मन का कार्य जारी रहता है, इसलिए मनुष्य इस अवस्था में स्वप्न देखा करता है।

(३) **सुपुप्तावस्था**—इस अवस्था में सूक्ष्म और कारण शरीरों का सम्वन्ध भी टूट जाता है और तीनों शरीरों में से किन्हीं दो का सम्वन्ध बाकी नहीं रहता।

इन अवस्थाओं और उनके सम्वन्ध के रहने, न रहने पर विचार करने से एक परिणाम निकलता है, जिस पर प्रत्येक विचारक को पहुँचना पड़ता है, और वह परिणाम यह है कि शरीरों के इन सम्वन्धों के टूटने से मनुष्य को सुख और शान्ति प्राप्त हुआ करती है। जिस समय मनुष्य जाग्रत् अवस्था के कामों से थक कर सो जाता है तो स्थूल शरीर का व्यवहार बन्द हो जाने से, उसे कुछ आराम मिलता है। परन्तु जब मन भी थक जाता है, तव मनुष्य स्वप्नावस्था से निकल कर सुपुप्तावस्था में पहुँच जाता है और इस अवस्था में, स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का काम बन्द हो जाने से उसे पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाया करती है। इससे यह वात भली भाँति समझ में आ जाती है कि जब एक (जाग्रत् स्वप्नावस्था का) सम्वन्ध टूटा था तो कुछ आराम मिला था, परन्तु जब दोनों सम्वन्ध (तीनों शरीरों के) टूट गये तो मनुष्य को पूरा सुख और आराम मिला। इसलिए विद्वान् सुपुप्तावस्था को मुक्तावस्था का आंशिक उदाहरण रूप समझा करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि शरीरों के सम्बन्ध टूटने से सुख प्राप्त हुआ करता है।

दूसरे सम्बन्ध पर विचार

इस परिणाम पर पहुँचने के बाद अब दूसरे सम्बन्ध पर विचार कीजिये। दूसरा सम्बन्ध स्थूल और सूक्ष्म शरीर का एकमात्र प्राण के द्वारा है, जिस सम्बन्ध के बने रहने का नाम जीवन और टूटने का नाम मृत्यु है। पहले सम्बन्ध पर विचार करते हुए हम ने देख लिया है कि सम्बन्धों के टूटने से हमें सुख प्राप्त होता है। उसी परिणाम को लक्ष्य और उदाहरण में रखते हुए दूसरे सम्बन्ध पर विचार करें तो सुगमता से यह बात समझ में आ जायेगी कि यदि वह दूसरा सम्बन्ध भी टूट जाये तो उसका परिणाम भी यही निकलेगा कि मनुष्य को सुख मिले। इस कल्पना के लिए कि इस दूसरे सम्बन्ध के टूटने से मनुष्य को दुःख होगा, संसार में कोई उदाहरण ही नहीं है। इसलिए दूसरे सम्बन्ध का टूटना रूप मृत्यु दुःखप्रद नहीं अपितु सुखप्रद है। यही उच्च शिक्षा है, जो उपनिषद् दुनिया को देना चाहती है। इस परिणाम पर मनुष्य तभी पहुँच सकता है, जब वह इन तीन मन्त्रों में वर्णित कारण और कार्य तीनों प्रकार के शरीरों को अपने पुरुषार्थ का क्षेत्र समझ कर पहले कर्त्तव्य का पालन करते हुए उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे और उस प्राप्त ज्ञान को कार्य में परिणत करे। उस यथार्थता की प्राप्ति के लिए प्राणायाम मुख्य साधन है, उससे कार्य शरीरों का पूरा-पूरा विकास हुआ करता है।

इसलिए उसका कुछ विवरण यहाँ दिया जाता है।[१]

प्राणायाम से शारीरिक उन्नति किस प्रकार होती है। इस बात के जानने के लिए एक दृष्टि, शरीर के अन्दर होने वाले अनिच्छित कार्यों में से हृदय और फेफड़ों के कार्यों पर डालनी होगी।

हृदय का स्थूल कार्य

इन शरीरों में दो प्रकार की अति सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। एक तो वे जो समस्त शरीर से हृदय में आती हैं और दूसरी नाड़ियाँ वे हैं, जो

१. प्राणायाम का विवरण यहाँ उदाहरण के तौर पर दिया गया है, जिससे समझ लिया जाये कि किस प्रकार शरीरों का ज्ञान प्राप्त करके उसे कार्य में परिणत करना चाहिए।

हृदय से समस्त शरीर में जाया करती हैं। पहली नाड़ियाँ शिरा और दूसरी धमनियाँ कहलाती हैं। शिराओं का काम यह है कि समस्त शरीर से अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिए हृदय में लाया करें। हृदय उस रक्त को शुद्ध करता है। रक्त अशुद्ध क्यों होता है ? इसका हेतु यह है कि समस्त शरीर के व्यापारों में इसका प्रयोग होता है और प्रयोग में आने से अशुद्ध हो जाता है। उसमें कुछ मैलापन आ जाता है। शुद्ध रक्त में ओपजन (Oxygen) काफी मात्रा में रहता है परन्तु काम में आने से जब यह अशुद्ध हो जाता है, तब उसमें ओपजन की मात्रा नाममात्र रह जाती है और उसकी जगह एक विषैली वायु (Carbonic Acid Gas) रक्त में आ जाती है, और इसी परिवर्तन से रक्त का रंग मैला स्याही = माइल सा हो जाता है।

फेफड़े का काम

हृदय में जब अशुद्ध रक्त शिराओं द्वारा पहुँचता है तो हृदय उसे फेफड़ों में भेजता है। यहीं से फेफड़े का काम आरम्भ होता है। फेफड़ा स्पञ्ज की भाँति असंख्य छोटे-छोटे कोशों (Cells) का समुदाय है। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि एक शरीर में यदि लम्बाई-चौड़ाई में फेफड़ों के कोशों (घटकों) को फैला दिया जाय, तो उसका विस्तार चौदह सहस्र वर्गफीट होगा। वे कोश, एक मांसपेशी (डायफ्राम) की चाल से, खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब ये कोश खुलते हैं तब एक ओर तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु दोनों मिलकर उसे भर देते हैं। अब इन कोशों में इस प्रकार से, अशुद्ध रक्त और शुद्ध वायु दोनों एकत्र हो गये हैं। प्रकृति का एक विलक्षण नियम यह है कि जिसमें जो वस्तु नहीं होती वह उसी को दूसरे से अपनी ओर खींचती है। रक्त में तो शुद्ध वायु ओषजन नहीं है और श्वास के द्वारा लिये हुए वायु में कार्बन वायु नहीं है। इन दोनों में जब उपर्युक्त नियम काम करता है तब उसका परिणाम यह होता है कि रक्त में से कार्बन वायु निकलकर श्वास के वायु में और श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से ओषजन निकल कर रक्त में चला जाता

है। फल यह होता है कि रक्त इस प्रकार शुद्ध और श्वास के द्वारा आया हुआ वायु अशुद्ध हो जाता है। शुद्ध रक्त हृदय में जाकर धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है, और अशुद्ध वायु निःश्वास द्वारा बाहर निकल आता है। यह कार्य प्रतिक्षण हुआ करता है।

हृदय की धड़कन

हृदय की धड़कन क्या वस्तु है ? एक बार हृदय से रक्त का शुद्ध होने के लिए फेफड़े में जाना और फेफड़े से शुद्ध होकर रक्त का हृदय में वापस आना, बस इन्हीं दोनों क्रियाओं से, हृदय में धड़कन बनती है। औसतन एक मिनट में ७२ धड़कन एक प्रौढ़ पुरुष के हृदय में हुआ करती हैं। विशेष अवस्थाओं में आयु के अन्तर से धड़कन की मात्रा न्यूनाधिक हुआ करती है। आमतौर से एक सैकण्ड में कम से कम एक बार रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़े में आता और शुद्ध होकर वापस चला जाता है। एक शरीर वैज्ञानिक ने हिसाब लगाया है कि इस प्रकार २४ घण्टे में २५२ मन रक्त हृदय से फेफड़े में आता है, और इतना ही रक्त शुद्ध होकर फेफड़े से हृदय में वापस चला जाता है। इस धड़कन से, आवाज 'लूब' के सदृश ध्वनि होती है और फैलकर जब रक्त ग्रहण करता है तब 'डप' शब्द की ध्वनि होती है। इन दोनों ध्वनियों में समय का कुछ अन्तर अवश्य होता है, परन्तु इतना थोड़ा कि दोनों शब्द मिले हुए से ही मालूम होते हैं और विशेषज्ञों के सिवाय साधारण लोग इस अन्तर को नहीं ख्याल कर सकते। अस्तु, अब विचारणीय बात यह है कि हृदय से रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में तो जावे, परन्तु श्वास के द्वारा पर्याप्त वायु फेफड़ों में न पहुँचे अथवा सब कोशों में जहाँ रक्त पहुँच चुका हो, शुद्ध वायु न पहुँचे तो उसका परिणाम क्या होगा ? फेफड़े के मुख्यतया तीन भाग हैं–(१) एक ऊपरी भाग जो प्राय गर्दन तक है, (२) मध्यभाग जो इधर-उधर हृदय के दोनों ओर है, (३) निम्न भाग जो डायफ्राम (मांसपेशी) के ऊपर दोनों ओर है। साधारण रीति से जो श्वास लिया जाता है वह पूर्ण श्वास नहीं होता, इसलिए फेफड़ों के सब भागों

अथवा सब भागों के समस्त कोशों में नहीं पहुँचता। जब फेफड़े के ऊपरी भागों में श्वास द्वारा वायु नहीं पहुँचता तो फेफड़े का ऊपरी भाग रोगी होना शुरू हो जाता है, जिसको 'टयूबरक्यूलोसिस' (Tuberculosis) कहते हैं और जब इसी प्रकार मध्य और निम्न भाग फेफड़ों के बेकार और त्रुटिपूर्ण होने लगते हैं तो उसके परिणाम में खांसी, दमा, निमोनिया, जीर्णज्वरादि अनेक रोग जो फेफड़ों से सम्बन्धित होते हैं, होने लगते हैं। इस प्रकार पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुँचने से जहाँ एक ओर फेफड़े से सम्बद्ध रोग उत्पन्न होते हैं।

एक और भयंकर परिणाम

तो दूसरी ओर उसका एक परिणाम यह भी होता है कि हृदय से जो रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़े में आता है वह बिना शुद्ध हुए ही हृदय में वापस चला जाता है। हृदय भी उसे रोक नहीं सकता। वहाँ से वह धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में पहुँचता है। इसका फल–रक्त–विकार होता है। रक्त के विकृत होने से मामूली रोग खाज (खुजली, खारिश) से लेकर भयंकर रोग कुष्ठ तक हो जाता है। इसलिए इन सब दुष्परिणामों से बचने के लिए आवश्यक है कि फेफड़े वायु से पूरित होते रहें और कोई कण (कोष) उसमें ऐसा न रहने पावे जहाँ वायु न पहुँच सके, यहीं से प्राणायाम की जरूरत शुरू होती है।

प्राणायाम की आवश्यकता

प्राणायाम के द्वारा जब यह श्वास बाहर रोक दिया जाता है तब मनुष्य के भीतर श्वास लेने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उसका फल यह होता है कि श्वास भीतर लेते समय श्वास वेग के साथ तेज हवा व आँधी के सदृश होकर फेफड़े में पहुँचता है और जिस प्रकार आँधी व तेज हवा नगर के कोने–कोने में प्रवेश करती है, इसी प्रकार वेग के साथ श्वास के द्वारा भीतर लिया हुआ वायु फेफड़े के एक–एक कोश तक पहुँच जाता है, और उससे न तो फेफड़े ही में कोई विकार होने पाता है और न रक्त ही दूषित होने

पाता है। अस्तु देख लिया गया कि प्राणायाम शरीर की उन्नति के हेतु ही नहीं, किन्तु मुख्य हेतु हैं। इसलिए स्वस्थ रहने के लिए प्रत्येक नर-नारी के लिए आवश्यक है कि प्राणायाम किया करें। यह शारीरिक उन्नति का विवरण हुआ। इसी प्रकार इससे मानसिक उन्नति भी होती है। निदान दोनों प्रकार के कर्त्तव्य प्राणायाम से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

दोनों कर्त्तव्यों पर एक दृष्टि

उपर्युक्त ६ मन्त्रों पर दृष्टिपात करने से जिनमें दोनों कर्त्तव्यों का विधान है, एक और बात भी विचार में आती है और वह यह है कि इन दोनों कर्त्तव्यों को सफलता के साथ-साथ पालन करने से मनुष्य मृत्यु के बन्धन से छूटता और अमरता प्राप्त करता है। परन्तु थोड़ा भी सोचने से यह बात समझ में आ जाती है कि मृत्यु के बन्धन से छूटना और अमरता प्राप्त करना-दोनों का भाव असल में एक ही हैं। इसलिए मन्त्रों का स्पष्ट भाव यह है कि मृत्यु के पार होना न केवल ज्ञान का परिणाम है और न केवल कर्म का, किन्तु ज्ञान और कर्म के समुच्चय ही से बन्धन छूटता है। परन्तु मुक्ति के दो पहलू होते हैं-एक मृत्यु से पार होना जिसे शान्ति या ऋणात्मक (Negative) आनन्द कहते हैं और दूसरा आनन्द-प्राप्ति जिसे धनात्मक (Positive) आनन्द कहते हैं। इनमें से पहली बात, मृत्यु के बन्धन के पार होना तो हमारे कर्म और ज्ञान का परिणाम है, परन्तु दूसरी बात धनात्मक आनन्द न हमारे कर्म का परिणाम है न ज्ञान का। फिर यह किस प्रकार प्राप्त होता है ? कठोपनिषद् इसका उत्तर देती है। उपनिषद् का वह वाक्य यह है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

कठ० १/२/२३//

अर्थात् वह परमात्मा प्रवचन, बुद्धि और बहुश्रुत होने से प्राप्त नहीं होता। फिर वह प्राप्त किस प्रकार होता है ? उपनिषद् का उत्तर है कि जिसको वह स्वयं स्वीकार कर लेता है, उसी पर अपने को प्रकट कर देता है। उपनिषद् के इस वाक्य से यह तो ज्ञात हुआ कि

आनन्दघन प्रभु अपनी दया ही से उपासकों को प्राप्त हुआ करता है। परन्तु वह कब किसी को मिला करता है ? इसका उत्तर यह है कि जब मनुष्य कर्म और ज्ञान को उन्नत करके अपने को उसकी कृपा का पात्र बना लेते हैं, जैसा कि ऋग्वेद में कहा है कि "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।" (ऋग्वेद ४/३/११) अर्थात् मनुष्य यत्न करके जब तक अपने को थका नहीं डालता, तब तक ईश्वर की दया का पात्र नहीं बनता। उसका यत्न कर्म और ज्ञान को उत्कृष्ट बनाने से पूरा हुआ करता है। जब मनुष्य यह यत्न पूरा कर लिया करता है, तभी उसे वह प्राप्त हो जाया करता है।

जिस प्रकार एक छोटा बालक जो अभी केवल घुटनों के बल चलता है, खड़ी हुई माता के चरणों तक पहुँच गया, परन्तु इतने से उसकी भूख निवृत्त नहीं होती। जब बालक अपना यत्न समाप्त करके आशा भरी दृष्टि से माता की ओर निहारता है, तो माता के हृदय में दया के भाव जागृत हो जाते हैं और वह उसे गोद में उठाकर दूध पिलाकर शान्त कर देती है। इस प्रकार मुमुक्षु जब अपने उन्नत कर्म और ज्ञान से मृत्यु के पार हो जाता है, तभी प्रभु दया करके उसे प्राप्त होकर आनन्दरूपी दुग्ध का पान कराके कृतकृत्य कर दिया करते हैं। अस्तु, यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि–

ईश्वरोपासना के दो भेद हैं–

(१) सगुणोपासना, (२) निर्गुणोपासना।

इनमें सगुणोपासना वह है, जिसमें ईश्वर की सगुणता के साथ ही वह न्यायकारी है, दयालु है, आनन्दस्वरूप है, इत्यादि हृदय में धारणा की जाती है और दूसरी निर्गुणोपासना वह है जिसमें ईश्वर की निगुर्णता के साथ कि वह अजर है, अमर है, अनादि है, अनन्त है, इत्यादि हृदय में धारणा की जाती है। दोनों उपासनाओं के फल इस प्रकार हैं।

निर्गुणोपासना का फल

ईश्वर की निर्गुणोपासना का यह प्रभाव उपासक पर पड़ता है, जिससे उसमें भी निर्गुणता आती है। यदि ईश्वर अमर है, तो वह भी

अमर बनता है। इस प्रभाव से उपासक में कुछ आता नहीं, अपितु कुछ जाता है, परन्तु इस जाने ही से प्रसन्नता होती है, इसलिए इस प्रसन्नता को ऋणात्मक आनन्द (शान्ति) कहते हैं। एक जगह उपनिषद् में कहा गया है–

अशब्दम् अस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तम् महतः परं ध्रुवं,
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥ कठ० १/३/१५

अर्थात् ईश्वर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्ध, अनादि, अनन्त है, इस प्रकार उस महान् परम ध्रुव का (उसकी निर्गुणता का) निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य मृत्यु के मुख से छूटता है। मृत्यु के मुख से छूटना ही ऋणात्मक आनन्द है।

सगुणोपासना का फल

परन्तु जब ईश्वर की सगुणोपासना की जाती है, तो ईश्वरीय गुणों के प्रभाव से उपासक को सगुणता की प्राप्ति से आनन्द की प्राप्ति होती है। इसका भी प्रमाण है–

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-स्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम्॥

अर्थात् ईश्वर एक, सब को वश में रखने वाला, सर्वव्यापक, एक रूप वाली प्रकृति को अनेक प्रकार का बना देने वाला है, उसका जो धीर पुरुष आत्मस्थ होकर साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं को चिरस्थायी सुख (आनन्द) प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं। यही धनात्मक आनन्द है, जो सगुणोपासना से प्राप्त हुआ करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५ ॥

भावार्थ–(सत्यस्य, मुखम्) सत्य का मुख (हिरण्मयेन पात्रेण) सुवर्ण के पात्र से (अपिहितम्) ढका हुआ है, (पूषन्) हे पूषन्! (सत्यधर्माय, दृष्टये) उस सत्य धर्म के दिखाई देने के लिए (त्वम्) तू (तत्) उस आवरण को (अपावृणु) हटा दे।

व्याख्या

मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान करते हुए उपनिषद् ने मनुष्यों को चेतावनी दी है कि इन कर्त्तव्यों का पालन करने में सच्चाई (वास्तविकता = Reality) होनी चाहिए, अन्यथा इनकी उपयोगिता न रहेगी। परन्तु संसार में सच्चाई के छिपा देने के भी साधन मौजूद हैं जिनसे यह दबा दी जाती है, उन्हीं साधनों की ओर मन्त्र में संकेत किया गया है।

सुवर्णमय पात्र (संसार की चमक-दमक वाली चीजें) ही वे पदार्थ हैं, जो मनुष्य को प्रलोभन में लाकर उसे सत्य पथ से विमुख कर दिया करते हैं। मनुष्य क्यों चोरी करता है ? धन के लालच से। मनुष्य क्यों किसी को धोखा देता है, क्यों किसी को ठगता है ? धन के लालच से। अभी पश्चिमी युद्ध के समय पश्चिमी राज्य-कर्मचारियों ने क्यों झूठ बोल-बोलकर अन्यों को धोखा देने का अपना मन्तव्य और मुख्य कर्त्तव्य बना रखा था। इसका भी कारण वही धन का प्रलोभन है।

निदान सत्यता से विमुख होने के ये और इसी प्रकार के प्रलोभन ही हुआ करते हैं। इसलिए मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि हे पूषन् (पालक ईश्वर) इस प्रलोभन का आवरण सत्य के ऊपर से उठ जाय, जिससे सत्यता हम से और हम सत्यता से पृथक् न हों। सत्यता का इतना मान क्यों है ? केवल इसलिए कि सत्य का ही दूसरा नाम धर्म है। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है–

यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति। (बृहद्० १/४/१४)

अर्थात् निश्चय जो धर्म है, वही सत्य है, इसलिए सत्य कहने पर कहा जाता है कि धर्म कहता है, और धर्म को कहते हुए, कहा जाता है कि सत्य कहता है। परिणाम स्पष्ट है कि सत्य और धर्म दोनों वास्तव में एक ही वस्तु हैं। सत्य से धर्म और धर्म से सत्य भिन्न नहीं। एक दूसरी जगह ब्रह्म का नाम 'सत्यम्' कहा गया है। ब्रह्म को 'सत्यम्' क्यों कहते हैं ? इसलिए कि 'सत्यम्' शब्द तीन शब्दों से बनता है 'स + ति + यम् (देखो बृहदा० ५/५/१) 'स'

जीवन का वाचक है, 'ति' नाशवान् ब्रह्माण्ड के लिए, 'यम्' जीव ब्रह्माण्ड दोनों को नियम में रखने वाला होने से, ब्रह्म का नाम है। इस प्रकार 'सत्यम्' ब्रह्म का ही नाम है। सुतराम् अनेक रीति से सत्य की महिमा उपनिषद् में बखानी गयी है। वह 'सत्य' नामक ब्रह्म कहाँ है ? उपनिषत् का उत्तर है, 'तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्' (बृहदा० ५/१४/४/) अर्थात् वह सत्य ही में प्रतिष्ठित है, इसलिए सत्य (ब्रह्म) को प्राप्त करने के लिए सत्य से पृथक् नहीं होना चाहिए, किन्तु उसे पूर्ण रीति से प्राप्त कर लेना चाहिए। इसलिए उपनिषद् ने इस मन्त्र में चेतावनी दी है कि ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तु 'सत्य' आवरण रहित ही रहनी चाहिए, और मनुष्य का इसलिए कर्त्तव्य है कि उस पर सुवर्णमय पात्रों का आवरण न पड़ने दे। तभी वह अपने कर्त्तव्यों के पालन करने और उद्देश्य को प्राप्त कर लेने में, सफल-मनोरथ हो सकता है। कर्त्तव्य-विधान के वाद उसकी पूर्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

भावार्थ–(पूषन्) हे सर्वपोषक (एकर्षे) अद्वितीय (यम) न्यायकारी (सूर्य) प्रकाश-स्वरूप (प्राजापत्य) प्रजापति (रश्मीन्) ताप (दुःखप्रद किरणों को) (व्यूह) दूर कर (तेजः) और सुखप्रद तेज को (समूह) प्राप्त करा, (यत्) जो (ते) आपका (कल्याणतमम्) अत्यन्त मंगलमय (रूपम्) रूप है (तत्) आपके उस रूप को (पश्यामि) देखता हूँ, इसलिए (यः) जो (असौ पुरुषः) वह पुरुष (ईश्वर) है (सः) वह (अहम् अस्मि) मैं हूँ।

व्याख्या

मन्त्र में सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर से, सच्चित् जीव को सच्चिदानन्द वना देने की याचना की गयी है और वे साधन भी, जिनसे सच्चित् जीव सच्चिदानन्द बन सकता है, बताये गये हैं। और वे ये हैं–

पहला साधन—ईश्वर के उन गुणों को, जिनका विवरण मन्त्र में है, जीव को अपने में धारण करना चाहिए। वे गुण ये हैं—

१. **पूषन्**—मनुष्य को सब का पोषक होना चाहिए उसका हृदय इतना लचकीला और प्रेममय हो जाना चाहिए कि किसी को भी दु:खी न देख सके।

२. **एकर्षि**—उसे उपासक श्रेणी में अपने गुण और कर्म की दृष्टि से, अद्वितीय होने के लिए यत्नवान् होना चाहिए।

३. **यम**—उसे न्यायपथ का अचूक पथिक होना चाहिए। कभी अन्याय और अत्याचार का विचार भी उसके हृदय में नहीं आना चाहिए।

४. **सूर्य**—उसे अपने अन्त:करण को अज्ञान के अन्धकार से जो तमस् और रजस् के रूप में होकर हृदय को अन्धकारमय गुफा बनाये रखते हैं, स्वच्छ रखना चाहिए और सत्य के प्रकाश से उत्तरोत्तर हृदय को प्रकाशमय बनाने का यत्न करते रहना चाहिए।

५. **प्रजापति**—जिस प्रकार प्रजापति, अपनी प्रजा की रक्षा किया करता है, उसी प्रकार का रक्षक बनने का उसे उद्योग करना चाहिए, जिससे उसको कभी भयभीत न होना पड़े।

दूसरा साधन—मनुष्य को दु:ख से रहित और सुख से भरपूर हृदय वाला बनना चाहिए, यम और नियम के अभ्यासों से उसे साधन-सम्पन्नता प्राप्त होगी।

तीसरा साधन—जगदीश्वर के भक्त और प्रेमी का हृदय प्रेम से इतना भरपूर होना चाहिए कि प्रेम के आवेश में होते हुए उसे अपनी सुध-बुध न रहे और केवल ध्येय ही उसके लक्ष्य में रह जाये। भक्ति और प्रेम की इस उच्चतम अवस्था में वह अपने प्रेमपात्र प्रभु का दर्शन कर सकता है।

जब उपासक इन तीन साधनों से सम्पन्न हो जाता है, तभी उसे कह सकते हैं कि मुक्त जीव या सच्चित् से सच्चिदानन्द हो गया परन्तु इस प्रकार हुआ सच्चिदानन्द, यह जीव, सादि सच्चिदानन्द ही होगा, असली सच्चिदानन्द तो अनादि सच्चिदानन्द ही है। मन्त्र में यही शिक्षा दी गयी है। मनुष्य के कर्त्तव्य विधान और चुनौती देने के बाद,

उपनिषद् ने एक बार फिर उसे याद दिला दिया कि उसका अन्तिम उद्देश्य यही (ईश्वरदर्शन) होना चाहिए जिससे उसके कर्त्तव्य का रुख दूसरी ओर न फिर सके।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर॥१७॥

भावार्थ–(वायुः) शरीरों में आने जाने वाला (अनिलम्) जीव (अमृतम्) अमर है परन्तु (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) केवल भस्म पर्यन्त है, इसलिए अन्त समय में (क्रतो) हे जीव (ओ३म् स्मर) ओ३म् का स्मरण कर (क्लिबे स्मर) निर्बलता दूर करने के लिए स्मरण कर और (कृतम् स्मर) अपने किये हुए का स्मरण कर।

व्याख्या

यह उपनिषत् का चौथा और अन्तिम भाग है।

वेद की इस महत्त्वपूर्ण शिक्षा का भाव यह है कि मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिए कि जब अमर आत्मा और विनश्वर शरीर के वियोग का समय आवे, तब वह 'ओ३म्' का उच्चारण कर सके। छान्दोग्योपनिषद् में एक आख्यायिका आई है कि एक समय देवकी-पुत्र कृष्ण के लिए उन के गुरु आंगिरस घोर ऋषि ने उपदेश दिया कि जब मनुष्य का अन्त समय हो तब उसे इस तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिए।

(१) त्वम् अक्षितमसि। (हे ईश्वर आप अक्षित हैं।)
(२) त्वम् अच्युतमसि। (हे ईश्वर आप अविनश्वर हैं।)
(३) त्वम् प्राणसंशितमसि। (हे ईश्वर आप सर्वजीवनप्रद सूक्ष्मतम हैं।)

उपनिषत्कार का कथन है कि कृष्ण इस उपदेश को सुनकर अपिपास (अन्य किसी उपदेश के लिए तृष्णा रहित) हो गये। (छान्दोग्योपनिषद् ३/१७/६८)। विचारणीय बात यह है कि जब घोर ऋषि ने कृष्ण महाराज को अन्त समय की एक शिक्षा दी थी तो फिर कृष्ण ने क्यों यह समझ लिया कि अब उन्हें और किसी शिक्षा की

जरूरत नहीं रही। इस प्रश्न को लक्ष्य में रखते हुए जब हम उपर्युक्त मन्त्र पर दृष्टि डालते हैं तो प्रतीत होता है कि मन्त्र के दूसरे भाग में दो बातों के स्मरण करने का विधान है, एक 'ओ३म्' दूसरे 'अपने किये हुए कर्मों का'।

वेद के समस्त मन्त्र और ऋचाएँ दो भागों में विभक्त हैं–एक भाग उपदेश रूप में है, जिसमें मनुष्यों को उपदेश रूप में अनेक शिक्षाएँ दी गई हैं जिनके आचरण में लाने से वे अपने को उच्च कोटि का मनुष्य बना सकते हैं। परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र भी बनाया है। इसलिए जो शिक्षाएँ उपदेश से दी गई हैं, मनुष्य का अधिकार है कि उन्हें ग्रहण करे या न करे, क्योंकि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। मन्त्र के दूसरे भाग में जो कुछ है, नियम रूप में वर्णित हुआ है। जो शिक्षा नियम रूप में है, उन्हें किसी की शक्ति नहीं कि उल्लंघन कर सके, ये ही नियम हैं, जिन्हें प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) कहते हैं और अटल हैं। मन्त्र में जो उपदेश हैं, उनमें से एक यह है कि

"ओ३म् क्रतो स्मर" (हे जीव ओ३म् का स्मरण कर) नियत रूप है, और अटल है। इस शिक्षा को लक्ष्य में रखते हुए जब मनुष्य जीवन पर दृष्टि डालते हैं, तब वह भी हमें दो भागों ही में विभक्त दिखलाई देता है। मनुष्य–जीवन का पहला भाग उस समय तक रहता है, जब तक वह मृत्यु–शय्या पर नहीं आता। दूसरा भाग वह है, जिसमें मनुष्य मृत्यु–शय्या पर आकर अन्तिम श्वास लेने की तैयारी करता और लेता है। मनुष्य–जीवन का पहला भाग वह है, जिसमें मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता होती है। उसमें मनुष्य उल्टा–सीधा जिस प्रकार का भी चाहे कर्म कर सकता है, परन्तु जीवन के दूसरे भाग में वह स्वतन्त्रता बाकी नहीं रहती। मनुष्य पहले भाग में जिस प्रकार की भी परिस्थिति और प्रभाव में रहता है, दूसरे भाग में जो चित्र रूप होता है, उन्हीं परिस्थितियों और प्रभावों का चित्र खिंचा हुआ दिखाई देता हैं यदि एक व्यक्ति ने वित्तैषणा धन के प्राप्त करने की इच्छा और उद्योग ही में अपना जीवन व्यतीत किया है, तो जीवन के अन्तिम भाग में इसी का चित्र खिंचेगा, अर्थात्

वह धन ही का स्मरण करता हुआ इस दुनिया से कूच करेगा। गजनी के प्रसिद्ध लुटेरे बादशाह महमूद का जीवन इस विषय में उदाहरण रूप है। यदि उसने अपना सारा जीवन धन के लिए लूटमार करने में लगाया था तो अन्त में उसी धन के लिए रोता हुआ वह संसार से गया। यही अवस्था उनकी होती है जिन्होंने पुत्रैषणा अथवा लोकैषणा में अपना जीवन व्यतीत किया है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य, जीवन के पहले भाग को जिस प्रकार के भी कार्य में लगाता है अन्त में जीवन के दूसरे भाग में, उसे उसी का स्मरण करते हुए इस दुनिया से जाना पड़ता है।

इतनी व्याख्या के बाद अब उस प्रश्न का सुगमता से समाधान हो जाता है, कि क्यों कृष्ण आचार्य घोर के उपदेश को सुनकर अपिपास हुए। कृष्ण ने समझ लिया कि अन्त में "त्वम् अक्षितमसि" इत्यादि वाक्य तब मुँह से निकल सकते हैं, जब जीवन के पहले भाग में इनका स्मरण और जप किया हो। इस प्रकार घोर ऋषि का उपदेश केवल अन्त समय का ही एक कर्त्तव्य नहीं था, किन्तु सारे जीवन का यह कार्यक्रम था। जब सारे जीवन का कार्यक्रम आचार्य ने बतला दिया तब फिर कृष्ण को क्या जरूरत बाकी रही थी कि वे और भी किसी शिक्षा की आकांक्षा करते। उपनिषद् ने जो शिक्षा मनुष्य के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में ऊपर दी है यदि मनुष्य उसका ठीक रीति से पालन करे तो अवश्य उसकी वही अवस्था होगी कि अन्त में वह ओ३म् का स्मरण करते हुए संसार से रुखसत होगा। यह मन्त्र एक प्रकार की परीक्षा का विधान है। उपनिषद् की शिक्षा जिस कार्यक्रम से जीवन व्यतीत करने का विधान करती है, यदि मनुष्य उसी के अनुसार चलेगा तो अवश्य इस परीक्षा में उत्तीर्ण होगा, अर्थात् जीवन के दूसरे भाग में, ओ३म् का स्मरण करते हुए अन्तिम श्वास खींचेगा। यदि उस शिक्षा पर न चलेगा तो कदापि, ओ३म् का स्मरण न कर सकेगा। यही परीक्षा की अनुत्तीर्णता होगी। इसलिए प्रत्येक नर-नारी का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार से यत्नवान् हो कि जब परीक्षा का समय आये तो उत्तीर्णता प्राप्त करें।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

भाषार्थ–(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप (देव) तेजस्वी ईश्वर (राये) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे मार्ग से हम को (नय) चलाइये। आप (अस्मान्) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) कर्मों को (विद्वान्) जानने वाले हैं (अस्मत्) हम को (जुहुराणम्) उलटे मार्ग पर चलने रूप (एनः) पाप से (युयोधि) बचाइये। इसलिए (ते) आप को हम (भूयिष्ठाम्) बार-बार (नमः उक्तिम्) नमस्कार (विधेम) करते हैं।

व्याख्या

यह मन्त्र उपनिषत् का अन्तिम मन्त्र है। आर्य शैली के अनुसार सारा यत्न करके भी अन्त में मनुष्य को ईश्वर की दया ही का आश्रय लेना चाहिए। उसी के अनुसार इस प्रार्थना विधायक मन्त्र के साथ उपनिषद् समाप्त होती है। मन्त्र में पाप का कैसा सुन्दर लक्षण कर दिया है। पाप क्या है ? उलटे मार्ग पर चलना। इस उलटे पाप के मार्ग पर न चलकर सीधे और पुण्य पथ का पथिक बनने के लिए, ईश्वर ही की पथप्रदर्शकता की आवश्यकता है। वही आदि गुरु है। वही महान् शिक्षक है। उसी का आश्रय लेने से बेड़ा पार हो सकता है। इसलिए सब कुछ यत्न करके भी अन्त में उसी का आश्रय लेना चाहिए।

